सरस्वती-पुस्तक माला—पाँचवाँ पुष्प

सदाचार-सोपान

नसैं सकल सम्पत्ति अर्थ धन धाम सुहाई ।
नहिं चिन्ता को स्थान बहुरि सब बनहिं बनाई ॥
नसै स्वास्थ्य बल हानि भये कछु हानि विचारो ।
तन मन धन अरु युक्ति बुद्धि ते ताहि सम्हारो ॥
पर यदि विनसै सदाचार साँचहुँ ओहि छन में ।
भयो सबै विधि सर्वनाश जानहु ध्रुव मनमें ॥

लेखक

श्रीयुत पण्डित रामवृक्षराय शर्मा
विशारद

प्रकाशक

श्रीयुत अघौरी सच्चिदानन्दसिंह
सरस्वती-भण्डार, मुरादपुर, बाँकीपुर

प्रथम बार | मूल्य ६ आना | १००० प्रति

पण्डित रामजीलाल शर्मा के प्रबन्ध से
हिन्दी प्रेस प्रयाग, में मुद्रित।

विषय-सूची

सदाचार-सोपान

सर्वशक्तिसम्पन्न जगत्प्रभु परमेश्वर ने अपनी इस सृष्टि की बड़ी ही विचित्र रचना की है। सभी पदार्थ किसी न किसी उद्देश्य से ही रचे गये हैं। सभी का सबसे परस्पर संबंध है। यदि विचार की दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात हो जायगा कि जगन्नियन्ता प्रभु ने विशेषतः मनुष्यों के ही हित-साधन-निमित्त इन वस्तुओं को प्रदान किया है। परमेश्वर-रचित सब वस्तुओं का एक नाम "प्रकृति" है। मानव-जाति इस प्रकृति पर अपना आधिपत्य जमा कर किस प्रकार सुखोपभोग कर सकती है, किन किन उपायों के अवलम्बन से तथा कैसे कैसे कार्यों से अभीष्ट सिद्धि हो सकती है, इसके जानने की बड़ी ही आवश्यकता प्रतीत होती है। उत्तम कौशल, सद्गुण तथा सदाचार से मनुष्यों को संसार में क्या नहीं प्राप्त हो सकता? प्रकृति का जो स्वाभाविक प्रवाह प्रवाहित हो रहा है उसमें सांसारिक प्राणी डूबते और तैरते हैं। इस प्रवाह-धार को वश में कर रखने के लिये मानव-जाति को किसी विशेष कौशल की आवश्यकता है जिसको दूसरे शब्दों में सदाचार या सत्कार्य कह सकते हैं। इस अभ्रान्त सिद्धान्त पर जिन पुरुषों ने विश्वास कर इसका प्रतिपालन किया है उनका यश अमिट है; वे ही आदर्श पुरुष हैं। मनुष्य के जीवन का सुख, दुःख, चरित्र, एवम् आचार पर

ही निर्भर है। इसी चरित्र पर दृष्टि रखने से, इसी को उत्तम और दूसरों के लिये आदर्श स्वरूप बनाने से, मनुष्य मनुष्य कहला सकते हैं। सच्चरित्रता ही सद्गुणों का आधार है, इसीसे शुभ गुणों का विकाश होता है। इसीसे मनुष्यों के हृदय में सुहृदयता उत्पन्न होती है, दयालुता का संचार होता है, प्राणीमात्र पर दया की टेव पड़ती है, बन्धुबाँधवों पर प्रेमश्रद्धा उत्पन्न होती है, धार्मिक भावों की जागृति होती है, इसी से मानव-जाति की उद्देश्य-सिद्धि और अखण्ड यश की प्राप्ति होती है। सदाचार ही मनुष्यों का वास्तविक भूषण तथा अप्राप्य वस्तुओं के भी प्राप्त करने का एक सुलभ साधन है। इसके बिना पुरुष शोभारहित हैं। किसी सज्जन के निकट बैठने तक का सौभाग्य उन्हें प्राप्त होने का नहीं। संसार में जिन जिन गुणों को मनुष्य "उत्तम" संज्ञा से विभूषित करते हैं उन उत्तमों में भी सदाचार का स्थान सबसे अधिक ऊँचा एवम् उत्तम है। सबका मूल सदाचार ही है। अपना जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत करने के लिये मनुष्यों को बुद्धि, विद्या, द्रव्य एवम् अन्यान्य पदार्थों की भी आवश्यकता अवश्य पड़ती है परन्तु इन सबके अतिरिक्त अकेले सदाचार से ही मनुष्य उनकी त्रुटियों को पूर्ण कर सकता है। सदाचार की महिमा अपार है। जीवनयात्रा रूपी समुद्र पार करने के लिये सदाचारियों का जीवनआदर्श सेतु है। सदाचारियों का जीवन दूसरों के लिये जीवनयात्रा रूपी समुद्र पार करने के निमित्त सेतु के समान है। जिस प्रकार नदी या समुद्रों में पुल बाँध देने पर उसे पार कर जाना सब के लिये सुलभ हो जाता है, मनुष्य, क्या चींटी तक भी अनायास पार कर जाती हैं उसी प्रकार सदाचारियों के जीवन

को आदर्श रखते हुए अन्य मनुष्य भी अपना जीवन सुन्दर बना सकते हैं। यही कारण है कि सदाचारी पुरुषों के जीवनचरित्र लिखने की प्रणाली अद्यावधि वर्तमान है। गोस्वामी तुलसीकृत-रामायण में जिन मर्यादा-पुरुषोत्तम, सदाचारी भगवान रामचन्द्र एवम् भरतादि उनके भाइयों के चरित्र का वर्णन है। प्रत्यक्ष देख लीजिये इससे सारे संसार को कैसी कैसी अनुपम शिक्षायें प्राप्त हो रही हैं। भगवान रामचन्द्र कैसे सदाचारी थे, उनके आचार का दूसरों पर कैसा प्रभाव पड़ता है. इसके लिखने की आवश्यकता नहीं। अस्तु अब विचार करना चाहिये कि सदाचार जैसे सर्वोत्तम गुण की हम कहाँ तक प्रतिष्ठा करते हैं? इसके प्रतिपालन का हमारे हृदय में कहाँ तक ध्यान है?

समय तथा समाज की वर्तमान अवस्था पर दृष्टिपात करने से इसके सम्बन्ध की सारी बातें प्रकट हो जाती हैं। जिस उत्तम गुण की सच्छास्त्रों एवम् ज्ञानियों ने अतीव प्रशंसा की है, जिसके बिना मनुष्यों का एक लघु कार्य भी समाप्त होने में संकोच करता है, जिसके बिना प्रत्येक बात की उन्नति के मार्ग में बाधायें उपस्थित हैं, जिसके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं कहला सकता उस सदाचार की हम बड़ी ही अवहेलना करते हैं। सदाचार की जगह पर दुराचार का ही प्रयोग निरन्तर किया जा रहा है। आचार की उत्तमता एवम् उसकी पवित्रता पर भूल करके भी किसी का ध्यान नहीं जाता, आचार की शुद्धता पर विचार करना हम भूल बैठे हैं, उन कार्यों की ओर ध्यान भी नहीं दिया जाता जिनका सम्बन्ध सदाचार से है। सदाचार के ये विपरीत लक्षण भावी भलाई के सूचक नहीं। आप प्रत्यक्ष देख लीजिये,

अनाचारी तथा दुष्कर्म-प्रिय मनुष्यों की क्या क्या दुर्गति हो रही है। सर्वत्र इसके प्रमाण पाये जाते हैं। परस्पर प्रेम का अभाव, ईर्ष्या, द्वेष, मिथ्या-भाषण, चोरी, कपट, पाखण्ड, अविद्या और व्यभिचारादि इन्हीं अनाचारों का आज कल विशेष आदर है। यह क्यों? हमारी प्रकृति इस प्रकार क्यों उलट गई है? हमसे सत्कार्य क्यों नहीं बन पड़ते? सदाचार की ओर हमारी इस अप्रवृत्ति का क्या कारण है?

सङ्गति का मनुष्यों के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। सुसङ्ग में मनुष्य सदाचारी, इसके प्रतिकूल कुसङ्ग में अनाचारी बन जाते हैं। प्रकृति का यह नियम है अथवा मनुष्यों का यह स्वभाव है कि विशेषतः जैसा वे देखते हैं वैसा ही करते हैं, जैसा सुनते हैं वैसा ही उनपर प्रभाव पड़ जाता है। जन-समाज की अवस्था बिगड़ी हुई दीख पड़ती है। सदाचारियों की संख्या कम है, आचार-भ्रष्ट ही अधिक दीख पड़ते हैं तथा उन्हींके कार्य्य हमको आदर्श स्वरूप जान पड़ते हैं, अतएव उन्हीं का अनायास अनुसरण हो जाता है। बालकों के माता-पिता अपने पुत्र पर विशेष दृष्टि नहीं रखते। कितने माता-पिता बालकों को बालपन में ही निरङ्कुश छोड़ देते हैं, लड़का मनमानी जो चाहता है करता है, भले बुरे का उसे विचार नहीं। चित्त की यह विशेषतः प्रवृत्ति है कि वह बुरे कार्यों की ही ओर अधिक झुकता है। माता पिता की इस प्रकार की असावधानी से लड़के बालकाल में अपने भावी जीवन का उत्तम साधन गँवा देते हैं, अनाचार को ही प्रिय मान बैठते हैं। अभिभावक की असावधानी से लड़के मादक द्रव्यों का व्यवहार सीख लेते हैं जिनसे विशेषतः स्वास्थ्य को बड़ा धक्का लगता है। स्कूलों में भी सदाचार की मात्रा कम देख

पड़ती है। शिक्षक के आचार का लड़कों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि शिक्षक सदाचारी हैं तो उनके शिष्य भी सदाचारी होंगे। यदि शिक्षक ही अनाचारी हैं तो उनके लड़के आचारभ्रष्ट निकलेंगे, यह प्रत्यक्ष ही है। शिक्षक यदि लड़के के आचार को उत्तम और पवित्र बनाना चाहते हों तो सबसे प्रथम उनको अपना ही आचरण आदर्श स्वरूप बनाना उत्तम है। यदि शिक्षक का आचरण उत्तम है तो उन्हें अपने शिष्यों को सदाचारी बनाने के लिये उपदेश की आवश्यकता प्रायः नहीं के बराबर है। लड़के आपसे आप उनके आचरण का अनुकरण करेंगे। आचारहीन गुरु यदि अपने शिष्यों को आचार उत्तम बनाने की अनेक शिक्षा दे, परन्तु उसकी शिक्षा का कुछ भी प्रभाव शिष्यों पर नहीं पड़ेगा। स्कूल बालकों के आचरण के सुधारने का एक मुख्य स्थान है परन्तु इस स्थान में भी इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं देख पड़ती। इसपर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। इस सम्बन्ध में उपर्युक्त साधनों पर विचार रखते हुए किसी प्रकार की शिक्षा भी स्कूलों में नहीं दी जाती। विशेषकर बालकोंके लिये इसकी आवश्यकता है। किन किन उपायों के अवलम्बन से, किस प्रकार कार्य्य करने से और किस प्रकार का उद्देश्य ध्यान में रखने से आचरण उत्तम हो सकता है, सर्वसाधारण विशेषकर बालकों को इसके जानने की बड़ी आवश्यकता है।

"सदाचार" विषय की गहन गहन बातोंपर इसके भीतरी रहस्य को प्रकट कर दिखलाने के लिए तथा मानव जाति के इस ओर ध्यान दिलाने के निमित्त बड़े बड़े मर्मज्ञ विद्वानों की लेखनी उठ चुकी है। इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले अनेक सद्ग्रंथ तथा बड़ी बड़ी पुस्तकें प्रस्तुत हैं। परन्तु

हमारी समझ में बालकों के लिये एक इस प्रकार की सरल पुस्तक की आवश्यकता है जिससे वे सदाचार से सम्बन्ध रखने वाली बातों से अभिज्ञ हों इस ओर ध्यान आकृष्ट करें। मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि बालकों पर शिक्षकों, उनके अभिभावकों तथा उन पुरुषों के आचरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है जिनकी सङ्गति में वे सदा रहते हैं । किन किन सीढ़ियों द्वारा सदाचार रूपी अटारी पर चढ़ कर वे आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, इन्हीं बातों को यथासाध्य उन्हें बतलाने के लिये मैंने "सदाचार सोपान" नामक छोटी सी पुस्तक लिखने का साहस किया है। मैं तो कोई लेखक नहीं हूँ, मुझमें लिखने की भी शक्ति नहीं है, मुझे विश्वास है कि मेरा यह कार्य्य हास्यास्पद होगा परन्तु तो भी इस जानी हुई बात को प्रकट कर देने के लिये मैं अपने को बाध्य समझता हूँ। इसी विचार ने मुझे ऐसा करने के लिये विवश किया है। आशा है, विद्वान् पुरुष मेरी पुस्तक की त्रुटियों पर सहानुभूतिपूर्वक दृष्टिपात कर कृतार्थ करने की कृपा से मुझे अनुगृहीत करेंगे।

—:०:—

सदाचार की महिमा

सबसे प्रथम इस विषय की महिमा लिखी जाती है। पुस्तक की प्रारम्भिक बातों में भी इस विषय के सम्बन्ध में उपर्युक्त कुछ लिखा जा चुका है। "सदाचार" यह दो शब्दों के योग से बना है। एक सत् और दूसरा आचार । अर्थात् उत्तम चालचलन, शुद्ध आचरण, दोषरहित एवम् पवित्र कार्यों के सम्पादन को ही सदाचार कहते हैं। सदाचारी पुरुषों का जीवन निष्कलङ्क चन्द्रमा के तुल्य है। जिस प्रकार चन्द्रमा

आकाश में चमकता हुआ सारी सृष्टि के प्राणिमात्र को सुख पहुँचाता है उसी प्रकार सच्चरित्रों के जीवन कार्य्य-क्षेत्र में दृष्टिगत हो सुचारुरूप से कार्य्य सम्पूर्ण करा देने में सहायक होते हैं। सदाचारी पुरुष ही अपने धर्म की पहिचान कर सारे सुखों की प्राप्ति करते हैं। संसार में जितने उत्तम उत्तम कार्य्य हैं जिनके करने से मनुष्य यशस्वी बनता है, उन सब का समावेश इस सदाचार में है। सदाचारी और सज्जन ये एक ही अर्थ के बोधक हैं। अपने आचार और कर्त्तव्य पर पूर्ण ध्यान रखने वाले और उसे भली भाँति सम्पादन कर देने वाले पुरुष ही उपर्युक्त संज्ञाओं से विभूषित हो सकते हैं। ऐसे सत्पुरुष जो कहते हैं वही करते हैं और जो करने योग्य होता है उसी को कहते भी हैं। अपने कर्त्तव्य से कभी विमुख नहीं होते। वृथा हर्ष और शोक, डर उनके हृदयों को आनन्दित और शोकित करने में समर्थ नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण ले लीजिये। भगवान रामचन्द्र वनवास-प्रस्थान को उद्यत हो चुके हैं, पिता की आज्ञा पालन करने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं हो रहा है। पूज्यपाद से केवल आज्ञा माँगने को खड़े हैं। इसी समय जटिलहृदय कैकेयी के मनमें सन्देह उत्पन्न हो रहा है। वह विचार कर रही है कि "राम जंगल जाने में विलम्ब कर रहा है, जायगा या नहीं"। हृदय की वेदना से विवश हो कैकेयी कहती है कि "राम! तुम तीन बार कहो कि जाऊँगा, जाऊँगा, जाऊँगा, तब हमारे हृदय को तुम्हारे सम्बन्ध में विश्वास होगा अन्यथा नहीं। कैकेयी की इस प्रकार की वाणी सुनकर मर्य्यादापुरुषोत्तम कहते हैं कि "रामोद्विर्नाभिभाषते" अर्थात् हे माता! राम किसी बात को दुबारा नहीं बोलता। एक बार जो मुख

से निकला उसको अविचल और अकाट्य समझो, क्यों बार बार कहलाना चाहती हो ?

पाठक ! देखिये सदाचारी राम ने किस प्रकार का सरल उत्तर दिया है। ठीक है, सदाचारी किसी बचन को दुबारा नहीं बोलते, । किसी कवि ने कहा है :—

उदयति यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः ।
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां
न भवति पुनरुक्तं भाषितं सज्जनानाम् ।

अर्थात् यदि सूर्य्य पूर्व से पश्चिम दिशा में उदय हो जायँ तो हो जायँ, सुमेरु पर्वत चलने लगे तो चलने लगे, अग्नि शीतल हो जाय तो हो जाय, पर्वतों के शिखर पर यदि कमल खिल जायँ तो खिल जायँ परन्तु सज्जनों का फिर से बोलना नहीं होता । वाचक ! तनिक विचारिये, सदाचारियों के सम्बन्ध में कैसी दृढ बात कही गई है। उनके आत्मा में बड़ा बल रहता है। उनका दूसरों के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। वे समझते हैं कि संसार में प्राणिमात्र से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये। सदाचारी ईश्वर की आज्ञाओं के प्रतिकूल नहीं चल सकते। लोक परलोक दोनों जगह उनका आदर होता है। सर्वत्र उनकी प्रतिष्ठा की जाती है। जीवन के सच्चे उद्देश्यों का उन्हीं से परिपालन होता है । सच्ची शान्ति सदाचारियों को ही प्राप्त होती है। शान्तिद्वारा तप, तप से ज्ञान और ज्ञानद्वारा ब्रह्म की इन्हीं पुरुषों से पहचान होती है। ब्रह्म की पहचान होने पर अपूर्व और अलौकिक आनन्द का ये ही अनुभव करते हैं। सदाचारी पुरुष ही देश के सच्चे सुधारक होते हैं। जननी जन्मभूमि ऐसे ही पुरुषों से अपने को

कृतार्थ समझती है और ऐसे ही पुरुषों के भारवहन से उसे आनन्द की प्राप्ति होती है। पृथिवी पर सदाचारियों का यदि सर्वथा अभाव हो जाय तो उसी समय प्रलय काल समझिये, अविद्या तथा अज्ञान का समुद्र उमड़ने लग जायगा। सदाचार की कहाँ तक प्रशंसा की जाय, सारे संसार का अस्तित्व इसी के ऊपर निर्भर है। ईश्वर सदाचारियों से ही प्रसन्न रहता है। साधारण उदाहरण ले लीजिये। कल्पना कीजिये कि किसी पिता के दो पुत्र हैं। उनमें से एक अपने पिता की आज्ञा के सदा अनुकूल चलता है, ऐसा कोई कार्य्य नहीं करता जिससे उसका पिता अप्रसन्न हो सके। बुरे कार्य्यों से उसे बड़ा भय लगता है। सत् कार्य्यों और सद्विचारों में ही सदा मग्न देख पड़ता है। सदाचार पर उसका बड़ा ध्यान रहता है। दूसरा पुत्र ठीक इसके विपरीत है। पिता की आज्ञा का उसे कुछ भी ध्यान नहीं रहता। मनमाना जो चाहता करता है। आचार की उसे कुछ भी चिन्ता नहीं है। अब आप ही बताइये कि पिता इन दो पुत्रों में किस पर अधिक प्रसन्न रहता होगा। निश्चय ही कहना पड़ेगा कि सदाचारी पुत्र पर पिता सदा प्रसन्न रहता होगा। ठीक इसी प्रकार सम्पूर्ण संसार के पिता परमात्मा अपने सदाचारी पुत्रों पर ही अधिक प्रसन्न रहते हैं और उनसे अपने को समीप समझते हैं। वेद ईश्वरीय आज्ञा है। सदाचार के प्रतिपालन का उसमें बड़ा ध्यान दिया गया है अतएव इस नियम का उल्लङ्घन करनेवाला अपने पिता परमात्मा के नियम का उल्लंघन करता है। अब स्पष्ट है कि इस प्रकार का अनाचारी पुरुष परमेश्वर को प्रसन्न नहीं रख सकता। सदाचार के बिना धर्म के किसी भी अंग का पालन नहीं हो सकता। विद्याप्राप्ति का सबसे मुख्य

साधन सदाचार ही है। सदाचार स्वास्थ्य का भी मूल है। कितने व्यभिचारी तथा इन्द्रियलोलुप पुरुष औषधालयों में बरसों सड़ते रहते हैं, यह मैंने स्वयं देखा है। यदि वे आचार को भी कोई चीज समझते होते तो उन्हें अस्पतालों में सड़ना नहीं पड़ता, प्रत्युत वे आनन्द की लहरों में गोते लगाते। आचार पर नहीं ध्यान देने वाले पुरुष निश्चय ही अपना स्वास्थ्य खो बैठते हैं। एक उर्दू का अनुभवी कवि कहता है कि "जितने सखुन हैं सब में यही दुरुस्त, अल्लाह आबरू से रखे और तन्दुरुस्त।" सारांश यह कि प्रतिष्ठापूर्वक जीवन व्यतीत करना और स्वस्थ रहना ही सर्वोपरि है। स्वास्थ्य और प्रतिष्ठा ये दोनों सदाचार से ही प्राप्त हो सकते हैं। जिसने अपना आचार बिगाड़ दिया समझिये कि उसने अपना सर्वस्व नष्ट कर डाला, जो पुनः प्राप्त होने का नहीं।

नसै सकल सम्पत्ति अर्थ धन धाम सुहाई।
नहिं चिन्ता को स्थान बहुरि सब बनहिं बनाई॥
नसै स्वास्थ्य बल हानि भये कछु हानि बिचारो।
तन मन धन अरु युक्ति बुद्धिते ताहि सम्हारो॥
पर यदि बिनसै सदाचार साँचहु जेहि छन में।
भयो सबै विधि सर्वनाश जानहु ध्रुव मनमें॥

"यदि तुम्हारी सारी सम्पत्ति नष्ट हो जाय, इसके लिये तुम कुछ भी चिन्ता न करो क्योंकि द्रव्य फिर से आ सकता है, खोई हुई सम्पत्ति सत्य और श्रम के आश्रय से पुनः प्राप्त हो सकती है इसके लिये शोक तथा चिन्ता व्यर्थ है। यदि तुम्हारा स्वास्थ्य नष्ट हो जाय तो इसके लिये कुछ चिन्ता अवश्य सार्थक एवम् उचित है। स्वास्थ्य नष्ट हो जाने पर समझो कि हमारे जीवन के सर्वस्व सार का आधा नष्ट हो

गया, क्योंकि स्वास्थ्य नष्ट हो जाने पर मनुष्य कोई कार्य्य नहीं कर सकता। सम्भव है, उत्तम स्वास्थ्य रहने पर पुरुष कई उत्तम कार्य्य करता जिनसे अब वञ्चित रहना पड़ा। अगर तुम्हारा आचार नष्ट हो जाय, सदाचार का ध्यान जाता रहे तो समझो कि हमारा सर्वस्व खो गया, अब फिर नहीं प्राप्त हो सकता। हमारा जीवन निरर्थक हो गया। संसार में अब हम कोई नहीं रहे। इसके लिये जितनी चिन्ता तुमसे हो सके उचित है"। इससे शिक्षा ग्रहण करो कि अगर हम चिन्ता भी करेंगे तो सदाचार की नष्ट होने पर। यदि शोक भी करेंगे तो सदाचार के ही नष्ट होने पर। परन्तु स्मरण रहे जानबूझ कर ऐसा कोई भी कार्य्य न करना चाहिये जिससे पीछे शोक तथा पश्चात्ताप करना पड़े। अतएव यदि शोकरहित होना ही पसन्द है तो सर्वदा सच्चरित्रता पर ध्यान देना उत्तम है।

मनुष्य में इतनी शक्ति अवश्य है कि वह अपने को साधनों द्वारा अपनी उत्तम इच्छा के अनुकूल बना सके। मनुष्य यदि चाहें तो अपने को सदाचारी बना सकते हैं। परन्तु इसमें औरों की भी इच्छा और प्रयत्न का प्रभाव पड़ता है। अभी ऊपर कहा जा चुका है कि इसमें सङ्गति का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त सन्तान के आचार का अभिभावकों तथा मातापिता से भी सम्बन्ध है। यदि माता पिता चाहें तो अपनी सन्तान को सदाचारी बना सकते हैं। ऐसी अवस्था में जबकि सन्तान अबोध, अवाक् एवम् अज्ञान रहती है, किसी भी बात के विचारने की शक्ति तथा भले बुरे का विचार नहीं रहता, उस समय सन्तति के आचार के उत्तरदायित्व का भार माता पिता पर ही निर्भर है। जब सन्तान कुछ बड़ी और बातों के समझने योग्य हो जाती है तब विशेष

रूप से आचार का भार सन्तान पर ही पड़ जाता है और तब स्वयं वह किस प्रकार सदाचारी बन सकती है इसी का सविस्तर वर्णन किया जाता है। बालकों को अपना आचरण स्वयं सुधारने के प्रथम उनके आचार-सम्बन्ध में पिता माता का क्या कर्तव्य है इसका गौणरूप से कुछ वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि बालकों के आचार पर इस का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। सबसे प्रथम माता पिता को बालकाल में पुत्रादि पर बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। संतान का बाल काल भी उनके आचरण सुधारने का एक मुख्य समय है। इसी समय माता पिता उनमें मनुष्यत्व का बीज बो सकते हैं। इसी समय के भली भाँति निबह जाने से सन्तान यशस्वी तथा सदाचारी बन सकती है। लड़कों का सच्चा तथा सुन्दर जीवन इसी समय में बनाया जा सकता है। इसी से कहा जाता है कि "लड़का ही मनुष्य का पिता है"। छोटे से छोटे पेड़ को जबकि वह बाल अवस्था में रहता है आप जिस प्रकार का चाहिये बना सकते हैं। यदि पौधा टेढ़ा होकर बढ़ रहा हो तो उसके जड़ के निकट एक सीधी लकड़ी गाड़ कर आप उसे अनायास सीधा कर सकते हैं। यदि वह सीधा ही बढ़ रहा हो तो आप उसे विना परिश्रम टेढ़ा भी कर सकते हैं और वह उसी अवस्था में रह भी सकता है जिस अवस्था में आप उसे कर दीजिये। अभिप्राय यह कि मनुष्य उसको जैसा चाहें चेष्टाद्वारा बना सकते हैं। परन्तु यदि वही पौधा कुछ दिनों के व्यतीत हो जाने पर जब बहुत बड़ा पेड़ हो जाता है तब उसको सीधा या टेढ़ा करना लाख प्रयत्न करने पर भी जिस प्रकार असाध्य और दुरूह हो जाता है उसका आप प्रत्यक्ष अनुभव कर

सकते हैं। ठीक यही अवस्था बालकों की भी है। जब तक उनका बालकाल है, जब तक उनका समय नाजुक और कोमल है। जब तक उनके विचार और उनकी इच्छायें मुलायम हैं आप अनायास जिस साँचे में चाहिये ढाल सकते हैं; जिस विचार तथा आचरण का चाहिये बना सकते हैं। यदि माता पिता अपनी सन्तान को शुभगुणसम्पन्न और इच्छानुकूल बनाना चाहते हों तो उनके लिये बालकों का यही समय अनुकूल है। इसी समय में जिस स्वभाव का चाहें बना सकते हैं, जिन जिन गुणों का समावेश करना चाहें कर सकते हैं। कुम्हार अपने बर्तन पर, जब तक वह सुखाया नहीं गया, कच्चा और गीला रहने पर, जिस प्रकार की चाहे कारीगरी कर सकता है, जिस रंग का चाहे रंग कर बना सकता है। फिर वर्त्तन के पक जाने पर जब तक उसका अस्तित्व रहेगा तब तक वह कारीगरी भी ज्यों की त्यों बनी रहेगी। परन्तु वर्त्तन के पक जाने पर यदि कुम्हार उस पर कारीगरी अथवा इच्छानुकूल कोई कार्य्य करना चाहे तो वर्त्तन की दो ही अवस्था होंगी, या तो अधिक प्रयत्न और परिश्रम करने पर वह फूटकर बेकार हो जायगा अथवा अपनी पूर्वावस्था में ज्यों का त्यों रह जायगा। कुम्हार अपनी ओर से अब कुछ नहीं कर सकता। ठीक कुम्हार के वर्त्तन के सदृश बालक तथा बालिकाओं की अवस्था है। गीले तथा कच्चे बर्तन के सदृश जब तक उनकी बाल अवस्था है माता-पिता रूपी कुम्हार जिस प्रकार का चाहे सुधार कर सकते हैं, जिस प्रकार की चाहें सन्तान के हृदय पर कारीगरी कर सकते हैं, जिस विषय की ओर उनकी प्रवृत्ति को ले जाना चाहें अनायास ले जा सकते हैं। परन्तु कुम्हार के पके वर्त्तन

के सदृश जब सन्तान की प्रौढ अवस्था हो जायगी तब माता पिता को अपनी सन्तान का सुधार उसी प्रकार दुःसाध्य तथा कष्टकर हो जायगा जिस प्रकार पके बर्तन पर कारीगरी करने के लिये कुम्हार को। अभिप्राय यह कि बालक को उसके बालकाल में जिस पथ का पथिक बनावें वह शीघ्र बन जायगा। एक और बात है। बालकाल का पड़ा हुआ संस्कार आजीवन अमिट रहता है। बालकों को बालकाल में कोई बात सिखला देना असाध्य नहीं है, परन्तु सिखलाई अथवा उनकी सीखी हुई बात का फिर जड़ मूल से उन्मूलन करना बड़ा ही दुःसाध्य है। स्वभाव का पड़ जाना कठिन नहीं परन्तु पड़े हुए स्वभाव का दूर करना महाकठिन प्रत्युत असम्भव सा है। अतएव बालकों की बालकाल में उत्तम शिक्षा होनी चाहिये, उत्तम स्वभाव का उसे अभ्यासी बनाना चाहिये। उनकी शिक्षा कैसे शिक्षक के द्वारा होनी चाहिये, इसके प्रथम मैं एक और बात कह देना चाहता हूँ। अनुकरण करने की प्रायः सबको शक्ति दी गई है और इस शक्ति का प्रायः सभी प्रयोग करते हैं जो प्रकृति के भी नियमानुकूल हैं। छोटे बच्चे से लेकर बूढ़े तक सभी इसके आश्रित हैं। विशेष कर बालक जिस प्रकार का देखते हैं ठीक उसी प्रकार करने का प्रयत्न भी करके सफलता प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार माता पिता को बालक कुछ करते और कहते देखेंगे ठीक उसी प्रकार करना और कहना भी आरम्भ करेंगे। जैसा सुनेंगे तदनुरूप ही वर्त्ताव करेंगे। ये सांसारिक दृश्य जिस प्रकार के उन्हें दृष्टिगोचर होंगे ठीक उनका चित्र भी उनके हृदय पर अङ्कित होता जायगा। माता पिता अथवा अन्यों के जिस प्रकार के आचरण को वे देखेंगे उसी प्रकार का चित्र

उनके हृदयपटल पर खिचता जायगा । विशेष कर बालकाल में लड़के माता पिता से ही अधिक सम्बन्ध रखते हैं इसीसे वह समय इनके लिये सन्तान की ओर से विशेष सावधानी का है ।

माता पिता को उचित है कि वे अपनी सन्तान को उत्तम शिक्षक से विद्याध्ययन करावें । ऐसे शिक्षक समझते हैं कि जितने बालक हमारे अधीन किये गये हैं उनके जीवन के सुधार का सब भार हमारे ही ऊपर निर्भर है, हमारे बनाने से ही बनेंगे अन्यथा नहीं । अपने कर्त्तव्य के समझनेवाले शिक्षक समझते हैं कि हमको सबसे प्रथम बालकों के चरित्र पर ही ध्यान ले जाना आवश्यक है क्योंकि विद्यादि के पठन-पाठन की सफलता इसी सच्चरित्रता से ही होती है। सच्चरित्र बालक ही गुणों का अनायास ग्रहण करते हैं ! आचार शुद्ध बनाने से ही बालकों के प्रति शिक्षक के सारे श्रम सफल होते हैं । बालकों को किन किन प्रकारों की शिक्षा दीजानी चाहिये यह उत्तम शिक्षक उत्तमतया समझते हैं । कथन का सारांश यह कि मातापिता को उचित है कि वे अपनी सन्तान को उत्तम शिक्षक के अधीन करें । स्कूल सम्बन्धी सभी बातों का भार शिक्षक के ऊपर निर्भर है । गृह पर भी माता पिता देखते रहें कि लड़का कुसङ्गति में न पड़े । अच्छी सङ्गति में रहने देना परमावश्यक है । परन्तु जो बालक कुछ बड़े हो गये हों, बातों के समझने की जिनमें कुछ शक्ति आ गई है, जो सर्वदा स्कूल आया जाया करते हैं या इधर उधर टहलते घूमते हैं, सम्भव नहीं ऐसे बालकों पर माता पिता सर्वदा सावधानी रख सकें । ऐसे बालकों को स्वयं उचित है कि वे अपने आचरण पर ध्यान रखें । विशेष कर ऐसे ही बालकों

के लिये यह सदाचार-सोपान पुस्तक लिखी गई है। इसके अध्ययन से छोटे बच्चों को भी शिक्षा मिलेगी कि अपना आचरण मनुष्य किस प्रकार उत्तम बना सकता है।

"मनुष्य किस प्रकार अपना आचरण स्वयं सुधार सकता है" इसी सम्बन्ध में अब ज्ञातव्य बातें लिखी जाती हैं।

सदाचार-प्राप्ति का उपाय

बालको !

"मकान बनाना बड़ा कठिन, परन्तु उसको विनष्ट कर देना सब के लिये बड़ा ही सुगम है" इस प्रसिद्ध तथा सर्व-मान्य सिद्धान्त को प्रायः आबालवृद्ध सभी जानते हैं। बनाने में परिश्रम तथा बिगाड़ने में सुगमता होती ही है। चढ़ना बड़ा कठिन परन्तु नीचे गिर जाना बड़ा सुगम है। ठीक यही दशा सदाचार की है। सदाचारी बनना बड़ा कठिन है परन्तु आचारभ्रष्ट बन जाने में कुछ भी कठिनाई नहीं। स्मरण रहे, परिश्रम तथा प्रयत्न का फल बहुत मीठा होता है। इसी परिश्रम और उद्योग से प्राप्त हुई सत् वस्तुओं के उप-भोग से जो सुख होता है वही वास्तविक सुख है। उसी की प्राप्ति का उपाय भी करना चाहिये। अतएव मनुष्य को सर्वथा सदाचार-प्रति-पालन तथा उसकी खोज का ध्यान करना चाहिये।

एक बार एक यक्ष ने महाराज युधिष्ठिर से यह प्रश्न किया था कि हे राजन् ! बताइए, धर्म तथा सदाचार का सच्चा मार्ग कौन है ? इसके तत्त्व का किस प्रकार पता चल सकता है ? किसके बताये धर्म का प्रतिपालन किया जाय ? महाराज कहते हैं कि हे देव !

वेदाविभिन्नाः स्मृतयोविभिन्ना नैकोमुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

धर्म का तत्त्व निर्दिष्ट करना बड़ा ही कठिन है, क्योंकि इसके तत्त्व बहुत ही गुप्त हैं। मानों गुफाओं में छिपे हैं। इसके सम्बन्ध में वेद तथा स्मृति सभी के पृथक् पृथक् मत हैं। ऐसा कोई मुनि नहीं है जिसके मत में अन्तर न हो। अतएव महान् पुरुष जिस मार्ग से गये हैं वही धर्म का मार्ग है, वही सदा-चार का मार्ग है। इसमें वेद भी अविभिन्न हैं अर्थात् उनकी भी यही सम्मति है। स्मृतियों का भी यही मत है। ऐसे एक भी ऋषि मुनि नहीं जिनके मत में उपर्युक्त धर्ममार्ग के सम्बन्ध में किसी प्रकार का अन्तर न हो। सत्पुरुषों के आचरण का अनुसरण करना ही धर्म का मार्ग है। अर्थात् उन्हीं के आच-रणानुकूल कार्य्य करना और उसी मार्ग से अपने को भी ले जाना उत्तम है। वे उत्तम पुरुष कौन हैं? जिन्होंने सदाचार का पूर्ण पालन किया है। किसके आचरण का अनुकरण करना चाहिये? जो सदाचारी हों। इतिहास पर दृष्टि ले जाकर किसी एक भी ऐसे महाजन का नाम बताइये जिसके आचरण का अनुकरण किया जाय? हमारे प्राचीन ग्रन्थों में अनेक ऐसे पुरुषों का उल्लेख है जिनका नाम तक गिनाने में मैं अपने को असमर्थ समझता हूँ। उदाहरण के लिये मैं मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र का जीवन आपको अर्पण करता हूँ। ऐसे ही सत्पुरुषों ने जिस मार्ग का अनु-सरण किया है वही धर्म का मार्ग, वही सदाचार का मार्ग है और उसकी खोज करने वालों को भी वही पथ ग्रहण करना चाहिये, जिसका सविस्तर वर्णन सारी रामायण ही है। मैं इस विषय में कुछ क्योंकर लिखूँ। परन्तु तो भी इसकी प्राप्ति के

दो एक साधन बतलाये बिना हमें सन्तोष नहीं होता। जानी हुई बात को प्रगट कर देने का यथाशक्ति साहस हो ही जाता है। इसके सम्बन्ध में कबीर साहब ने एक दोहा कहा है:—

केला तबहि न चेतिया, जब ढिग लागी बेर।
अब के चेते का भये, काँटन लीन्हों घेर॥

जिसका मतलब स्पष्ट है। कहा जाता है कि ऐ केला! तुम्हारी इस युवावस्था में इस कँटीली बेर ने तुझे चारों ओर से घेर लिया है, तुम्हारे कोमल शरीर को बेर के टेढ़े टेढ़े काँटे चारों ओर से बेध रहे हैं। इस समय तुम्हारी शक्ति भी कुछ चलती बनती नहीं देख पड़ती। इस विघ्न को दूर करने का तुम्हारा सारा प्रयत्न भी अब व्यर्थ ही है। अब इस समय चिन्ता करने से तुम्हारा क्या हो सकेगा। तुम्हारे जीवन को इस बेर ने अब दुःखमय तथा निरर्थक सा बना डाला। इसकी चिन्ता तुमको उसी समय करनी चाहिये थी जिस समय तुम्हारे निकट बेर लग कर उन्नति कर रही थी। अब तो इस बेर ने पूरी जड़ पकड़ ली। अगर इस बेर के बालपन में ही इसे नष्ट कर देने के सम्बन्ध में तुमसे कुछ प्रयत्न प्रथम ही हुआ होता तो इस समय तुम्हें आनन्द अवश्य होता, तुम्हारे कोमल शरीर में बेर के काँटे नहीं गड़ते।

पाठक! बालकों की भी अवस्था ठीक केले की सी है और बालपन में सदाचार पर ध्यान न देकर कुसंग का रहना ही बेर के सदृश है। यदि बुरे बुरे विचार बुरे बुरे अभ्यास एवम् दुष्कर्म और दुराचार बालपन में ही उखाड़ कर नहीं फेंक दिये गये, बराबर जड़ ही पकड़ते गये, इनके सम्बन्ध में एक भी विचार और प्रयत्न नहीं किये गये, तो अन्त में ये दुराचार और दुष्कर्म रूप बेर के पेड़ केले के सदृश बालकों के जीवन

को अवश्य ही निरर्थक और दुःखमय बना डालेंगे। युवावस्था में काँटे की तरह गड़ कर सदा दुःख देते रहेंगे और उस समय दुःख अनुभव करने पर उसे दूर करने के सम्बन्ध में एक भी प्रयत्न सफल नहीं हो सकेगा। अतएव बालको! यदि युवावस्था के इस दुःख से दूर रहना चाहते हो तो बालपन से ही इसका उद्योग करो। बुरे बुरे विचारों और अभ्यासों को, जो अभी बाल्यावस्था में हैं, जड़ मूल से उखाड़ कर अनायास फेंक डालो। अभी इन्हें उखाड़ डालने में कुछ परिश्रम भी नहीं पड़ेगा। यदि युवावस्था में वास्तविक सुख चाहते हो तो अभी से कुसंग को (जिसका कुछ वर्णन और लक्षण आगे लिखा जायगा) छोड़ दो, नहीं तो ठीक उस केले की सी दशा हो जायगी जिसको बेर के काँटों का दुःख सहन करना पड़ता है। सदाचार प्राप्ति का एक और उत्तम उपाय नीचे लिखा जाता है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान है, वह सर्वव्यापी है। सबकी घट घट की बात जानने वाला केवल एक वही है। छिपाने पर भी कोई बात उससे नहीं छिप सकती। वह सब कुछ देख सकता है। मनुष्य के सभी कर्त्तव्यों पर उसका पूर्ण ध्यान रहता है। उत्तम का उत्तम और बुरे का बुरा फल देने वाला वही है। कोई भी स्थान उससे शून्य नहीं। सूक्ष्म से सूक्ष्म अणु परमाणु के अन्दर तक भी उसका प्रवेश है। वायु और आकाश से भी यह अधिक सूक्ष्म है। इन्द्रियों की उसके यहाँ तक गति नहीं, वह बड़ा शक्तिशाली है। वह महती से महती शक्ति वाला है, अनाचारियों को बहुत कड़ा दण्ड देता है। सदाचारी ही उसके बड़े प्रिय हैं। सब की बातों का जानने वाला एक वही है। यहाँ तक कि मन में विचार उत्पन्न हुआ और उसको ज्ञात। अभिप्राय यह

कि वह मनुष्यों के भले बुरे सभी कार्य्यों को देखता है, सब जगह विद्यमान है और यथोचित न्याय करता है। अब आगे सुनिये।

दुष्कर्म तथा अनाचार किसी को भी प्रिय नहीं। उसके करने वाले भी उसे बुरा समझते हैं। वे यह जानते हैं कि चोरी करना बड़ा भारी पाप है, और हमें न करना चाहिये, परन्तु तो भी कर ही बैठते हैं। दोष जानते हुए भी उसका प्रयोग कर ही देते हैं। परन्तु कब? जब उनके हृदय में ऐसा विश्वास रहता है कि इसे कोई भी नहीं देखता। ठीक है, बुरे बुरे कामों तथा विचारों को मनुष्य छिपाना ही चाहते हैं। उनकी यही इच्छा रहती है कि इसे कोई भी नहीं जाने और न देख सके। बुरा कार्य्य करते समय उन्हें बड़ा भय भी जान पड़ता है। ये सब बातें प्रत्यक्ष हैं। यदि कोई चोर चोरी करता रहे और उसे यह बात ज्ञात हो जाय कि "हमारे इस काम को कोई मनुष्य देख रहा है तो अपना काम छोड़ वह वहाँ से निश्चय ही भाग जाता है।" झूठ बोलने वाला यदि सौ मनुष्यों के बीच में भी झूठ बोलने का विचार कर रहा हो और उसे यह भी ज्ञात हो जाय कि इतनी सङ्ख्या में अधिक तो नहीं परन्तु एक मनुष्य हमारी सब बातों को जानता है तो झूठ बोलने वाला अब इस डर से झूठ नहीं बोल सकेगा कि हमारा पर्दा खुल जायगा, क्योंकि इनमें से एक हमारी सब बातों को जानता है और कह डालने पर सम्भव है सबसे कह कर हमारा भेद खोल दे। इसी प्रकार सब दुष्कर्मों के विषय में जानिये। अभिप्राय यह कि मनुष्य जब इस बात को जानते हैं कि हमारा अमुक प्रकार का दुष्कर्म अमुक देखता, सुनता और जानता है तो वह उसके करने से वंचित रह जाता है।

अपने समीप एक मनुष्य की भी विद्यमानता पा दुष्कर्मों से बच जाता है। यह क्यों ? ऐसा क्यों ? वह डरता क्यों है ? वह इसलिये डरता है कि मेरा अपराध प्रकट हो जाने पर मुझे दण्ड का भागी होना पड़ेगा। गवर्नमेण्ट तथा राजा का कठिन दण्ड सहन करना पड़ेगा और भी कई दुःख उठाने पड़ेंगे। ओह ! हाय !! कितने शोक की जगह है, कैसे आश्चर्य्य की बात है कि दुष्कर्म करने वाला मनुष्य एक सांसारिक लघु आत्मा से इसलिए डरता है कि मुझे दण्ड का भागी होना पड़ेगा, हमारे अपराध सब पर प्रकट हो जायँगे, परन्तु दुष्कर्म करते समय सर्वशक्तिमान्, महती शक्ति वाला सर्व-व्यापक तथा सर्वान्तर्यामी प्रभु परमात्मा का उसके हृदय में तनिक भी ध्यान नहीं। सर्वत्र उसकी विद्यमानता का उसे कुछ भी विचार नहीं। सब पर और सर्वदा उसकी दृष्टि का उसे तनिक भी ख्याल नहीं। प्रभु परमात्मा से दुष्कर्म के बदले घोर दण्ड मिलने का उसे कुछ भी भय नहीं, परन्तु सांसारिक आत्मा के दण्ड का पूर्णभय करता है। निश्चय जानो बुरे तथा भले कर्त्तव्यों का यथोचित न्याय वही करेगा। उसी के दण्ड का भय होना चाहिये। किसी प्रकार का भी कार्य्य करते समय यह न भूल जाना चाहिये कि परमात्मा यहाँ नहीं हैं और हमारे कर्त्तव्यों को नहीं देख रहा है।

जो कार्य करो समझो कि हमारे सिर पर कोई महती शक्ति वाला सवार है, जो अधर्म करने पर दण्ड देगा। बालको ! यदि मनुष्य सदा इसी विचार को स्मरण रखे और ईश्वर के भय का विचार करता रहे तो दुष्कर्म और अनाचार से बच सकता है। इससे निश्चय ही यह शिक्षा

ग्रहण करो कि हम बुरा काम करेंगे तो ईश्वर कठिन दण्ड देगा और अच्छा कार्य करेंगे तो प्रसन्न रहेगा। इसके पश्चात् अब मानसिक देवासुर संग्राम का कुछ वर्णन कर दिया जाता है जिससे सदाचार के सम्बन्ध में अच्छी शिक्षा मिलती है।

प्रत्येक मनुष्य के अन्दर प्रायः दो प्रकार के विचार उत्पन्न हुआ करते हैं। एक उत्तम दूसरा निकृष्ट। इन दोनों में एक विचार मनुष्य के जीवन को सुघर बनाता और एक बिगाड़ डालता है। जिनको क्रमशः देव और असुर भी कह सकते हैं। इन दोनों में सदा संग्राम होता रहता है। यदि देव की जीत हुई तो मनुष्य सुख प्राप्त करते हैं और यदि असुर ने विजय पाई तो सर्वनाश का अवसर पहुँच जाता है। मनुष्यों के प्रायः प्रत्येक विचारों और प्रत्येक बातों में यह संग्राम अवश्य उत्पन्न हो जाता है। कल्पना कीजिये कि जी चाहता है कि चोरी करें। मन की असुर शक्ति के कारण ही ऐसा विचार उत्पन्न हुआ। उसी के निकट देव भी हैं जिनका कथन है कि नहीं, चोरी मत करो, वह अधर्म है, ऐसा करने से दण्ड का भागी होना पड़ेगा। जिस समय ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि चोरी करें उसी समय देवासुरसंग्राम भी छिड़ गया! यदि इस युद्ध में कहीं देव की हार हो गई, निश्चय मनुष्य चोरी करेहीगा। अगर इसमें देव ने ही विजय प्राप्त की तो मनुष्य इस अधर्म से वंचित रह जायगा। अतएव सदाचार की खोज करनेवालों को उचित है कि देवशक्ति की ही शक्ति को वे उन्नत और बलवती बनावें और असुर की शक्ति को जहाँ तक हो सके नष्ट करने का सदा प्रयत्न करते रहें। और प्रत्येक बातों में जहाँ तक बन पड़े ऐसा उद्योग करें जिसमें

यह संग्राम अवश्य छिड़े और उसमें देव को ही विजय प्राप्त हो। मनुष्य ऐसा किस प्रकार कर सकता है? सुनिये, इसी के सम्बन्ध में ऋषियों की शिक्षा है कि देव को बलवान करने के लिये सबसे प्रथम अपने मन को ही पवित्र कर लेना चाहिये, जहाँ से अधर्म आदि करने का विचार उत्पन्न होता है। यदि मन पवित्र होगया, बुरे विचार और अधर्म की एक भी इच्छा नहीं जागृत होती, तो समझिये कि सर्वदा देव को ही विजय प्राप्त हुआ करेगा। असुर सदा हारता जायगा। अच्छे विचारों तथा कामों की ही ओर मन झुकता जायगा और तब मनुष्य सदाचारी बन सकता है। इसके अतिरिक्त इसकी प्राप्ति के अभी अनेक साधन हैं जिनका अभी चल कर वर्णन किया जायगा।

संगति के सम्बन्ध में उपर्युक्त कुछ गौण रूप से कहा गया है। सदाचार से इसका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव इस विषय पर स्थूल रूप से विचार किया जाता है। कुसंग तथा सुसंग के लक्षण और उनसे होनेवाली हानियों तथा कामों का भी कुछ वर्णन किया जाता है।

सबसे प्रथम बालकों को उचित है कि वे कुसंग छोड़ दें। दुष्ट और अनाचारी पुरुषों से सदा घृणा रखें। अच्छे अच्छे बालकों तथा सत्पुरुषों की संगति में रहा करें। अपने शिक्षक की इस सम्बन्ध में सारी आज्ञाओं का पालन करें। जिनकी संगति से किसी प्रकार का लाभ सम्भव नहीं, जो बराबर बुरी बुरी बातों को ही विचार में रखते हैं, जहाँ सदाचार के विरुद्ध सब कार्य होते हैं, अच्छी अच्छी बातें जहाँ एक भी नहीं सुन पड़तीं, झूठ बोलना, चोरी करना, जुआ खेलना, कपट, पाखण्ड-युक्त व्यवहार, अच्छे पुरुषों से ईर्ष्या,

द्वेष, मिथ्याभिमान और दुर्व्यसनों में फँसे रहना ही जिन पुरुषों के प्रिय कर्त्तव्य हैं उन्हीं की संगति को कुसंग कहते हैं, जो सर्वथा त्याज्य है। इनके विरुद्ध सच बोलना, धर्म-पूर्वक कर्त्तव्य पालन करना, उत्तम उत्तम विचारों का मनन करना, श्रमपूर्वक सुकार्यों में समय व्यतीत करना, धैर्य, क्षमा, मन को वश करना, चोरी का सर्वथा त्याग, बाहर और भीतर की शुद्धि, इन्द्रियों को अपने अधीन रखना, बुद्धि को ज्ञान द्वारा बराबर बढ़ाते रहना, सद्विद्या की प्राप्ति, क्रोधरहित होकर सबसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करना, सदा जहाँ तक बन पड़े परोपकार में रत रहना, अपने से बड़ों में प्रेमपूर्वक भक्ति, अपने पूजनीय राजा का गुणानुवाद और उनमें भक्ति, आदि जिन सत्पुरुषों के कर्तव्य हैं उन्हीं की संगति को सुसंग कहते हैं, जिसके अधीन अपने को रखना उत्तम है। सत्पुरुषों के जो प्रधान प्रधान कर्तव्य हैं जिनके श्रवण-मनन आदि से बालक अपने आचार को उत्तम बना सकते हैं उन पर इस पुस्तक में क्रम क्रम से विचार किया जाता है। सत्पुरुषों के ये ही कर्तव्य सदाचार के सोपान हैं। उपर्युक्त इन्हीं सीढ़ियों पर क्रमशः चढ़ते हुए बालक सदाचारी बन सकते हैं। अब

सुसङ्ग की महिमा

लिखी जाती है। इसका सविस्तर वर्णन गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी रामायण में किया है। उसका संक्षिप्त सारांश यहाँ लिखा जाता है:—

"सत्सङ्ग ज्ञान प्राप्ति का साधन है, बिना इसके विवेक हो नहीं सकता। आनन्द और मङ्गल का सत्सङ्ग ही मूल है। बिना इसके उत्तम साधनों की प्राप्ति हो नहीं सकती। जिस

प्रकार कुधातु लोहा पारस के स्पर्श से सोना हो जाता है, इसी प्रकार सुसङ्ग के प्रभाव से शठों तथा अज्ञानियों का भी शीघ्र सुधार हो जाता है। इस सत्सङ्ग रूपी सरोवर में स्नान करने से वकरूप, दुष्ट तथा अनाचारी पुरुष शीघ्र हंस-रूप ज्ञानवान् और कर्तव्यपरायण हो जाते हैं। वाल्मीकि और नारदादि ऋषि इसी सत्सङ्ग के प्रभाव से ही पूजनीय हुए, जिनकी कथा इस प्रकार है:—

वाल्मीकि कवि ने भगवान रामचन्द्रजी से अपना वृत्तान्त कहा कि मैं पहिले व्याध था और मनुष्यों को लूट मारकर परिवार का पालन करता था। एक बार मुझे कई ऋषि मिले और जब मैंने उन्हें लूटना चाहा तब उन लोगों ने कहा कि तू इस प्रकार पाप कर्म करके तो अपने कुटुम्ब का पालन करता है सो तेरा कुटुम्ब खाने का ही साथी है अथवा तुझे जो पाप का फल मिलेगा उसका भी साथी है? यह सुन मैंने कुटुम्बियों से पूछा। उन्होंने कहा कि हम तो केवल खाने के साथी हैं, पाप पुण्य का नहीं। तब मैंने सब छोड़ ऋषियों के पास जाकर उनसे धर्मविषयक बातें सुनीं और उन्हीं की सङ्गति का प्रभाव है कि आज घर बैठे आपका दर्शन पाया। सत्सङ्ग में बड़ा बल है, उत्तम पदार्थों का देनेवाला यही है।

नारदजी ने व्यासजी से अपना यह वृत्तान्त कहा कि मैं एक दासी के उदर से उत्पन्न हुआ था। और जिन सत्पुरुषों के निकट मेरी माता टहल करती थी वहाँ मैं भी उसके साथ जाया करता था, सो उन महात्माओं का उच्छिष्ट भोजन खाते खाते उनकी सेवा करते करते और उनकी सत्सङ्गति में रहते रहते मेरी बुद्धि ऐसी शुद्ध होगई कि माता के मरते ही मेरे तप के अनन्तर मेरे प्रथम के सत्सङ्ग के प्रभाव से ही

ब्रह्मा के कुल में मेरा जन्म हुआ। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं कि सत्सङ्गति की महिमा वर्णन करने में मैं उसी प्रकार असमर्थ हूँ जिस प्रकार शाक का बेचनेवाला मणियों के गुण वर्णन करने में।"

सुसङ्गति में रहने वाले मनुष्य सदा अच्छी ही अच्छी बातों तथा उत्तम उत्तम विषयों पर विचार करते रहना सीखते हैं। उत्तम विचार हृदय पर उत्तम प्रभाव डालते हैं जिससे चित्त अच्छे कार्यों की ओर झुकता है। और ज्ञानादि की निरन्तर वृद्धि ही हुआ करती है। इसके प्रतिकूल कुसङ्ग में रहने वाले सदा बुरी बातें ही सुना करते हैं, जो हृदय पर बुरा प्रभाव डालती हैं, जिससे चित्त बुरे कार्यों की ओर झुकता है और प्राप्त ज्ञानादि भी नष्ट होकर जीवन को निस्सार तथा निरर्थक बना देते हैं। अतएव बालको! कुसङ्ग में रहने का विचार अपने हृदय में स्वप्न में भी मत लाओ, जितना शीघ्र हो सके इसका त्याग कर सुसङ्ग में चित्त को जोड़ दो। "दुर्जनों की सङ्गति सदा दुखदायिनी और सज्जनों की सदा सुख एवम् आनन्दप्रदायिनी है" इस उत्तम विचार को भूल करके भी मत भूलो। सुख चाहने वाले चतुर और दूरदर्शी पुरुष इस विचार को सदा विचारकोटि में रखते हुए पवित्र एवम् उत्तम समझते हैं। अपने चरित्र को सुधारने और सदाचारी बनने की इच्छा रखनेवाले बालक को अपने से बड़े पूज्य गुरु जनों और माता पितादि तथा अपने शिक्षक का

आज्ञा-पालन

परमावश्यक है। बालकों से जहाँ तक बन पड़े वे अपने गुरु-जनों की आज्ञाओं का आलस्यरहित हो शीघ्र पालन करने में तनिक भी सङ्कोच न करें। आज्ञापालन सदाचार का एक

मुख्य चिह्न है। बड़ों की सबसे बड़ी सेवा में आज्ञापालन का स्थान बहुत ऊँचा है। अगर मनुष्य किसी को प्रसन्न करना चाहता हो तो इससे बढ़कर उसके लिये कोई सात्त्विक, उत्तम साधन नहीं है कि वह उसकी सारी आज्ञाओं का निष्कपट भाव से परिपालन कर दे। पुत्र का यह परम कर्तव्य है कि वह पिता माता की सारी आज्ञाओं का तत्काल पालन करने में तन मन से उद्यत हो जाय, तनिक भी अपनी ओर से त्रुटि न करे। बालको! देखिये, महाराजा दशरथ की यह आज्ञा अपने प्रिय पुत्र रामचन्द्र के लिये कितनी दुरूह तथा कठिन है कि "इस अवस्था में हे पुत्र तुझे १४ वर्ष का वनवास दिया जाता है तू इसका पालन कर"। पिता की आज्ञा सुनकर भगवान् रामचन्द्र को तनिक भी शोक तथा दुःख नहीं हुआ। कुछ भी इसके पालन में उन्हें सङ्कोच नहीं हुआ। बहुत शीघ्र जानकी तथा अपने प्रिय भ्राता लक्ष्मण के सहित वे जङ्गल को चले ही गये। भगवान रामचन्द्र पिता के कैसे आज्ञाकारी पुत्र थे। उनके इस कर्त्तव्य से उनके सदाचार का बहुत कुछ पता चलता है। अपने प्राचीन ग्रन्थों पर दृष्टि ले जाने से हमें अनेक इस प्रकार के उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। कथन का सारांश यह है कि माता-पिता की आज्ञाओं के पालन करने में बड़ी भलाई है। जिसपर बालकों को बहुत अधिक ध्यान देना चाहिये।

स्कूल में वही बालक विद्या प्राप्त कर सकता है जो शिक्षक का आज्ञाकारी है। आज्ञाकारी बालकों पर शिक्षक का जी भी बहुत प्रसन्न रहता है, इससे वे श्रमपूर्वक पढ़ाते हैं। स्कूल के नियमों का पालन करना विद्यार्थियों का एक मुख्य कर्त्तव्य है, जो इसके विरुद्ध होते हैं उनकी बड़ी बड़ी दुर्गति

होती है। अन्त में वे विद्या से वञ्चित रह जाते हैं। नियम पालन से शान्ति रहती है, जिससे सुविधापूर्वक शिक्षा दी जाती है। आज्ञाकारी बालक ही अपना प्रति दिन का पाठ भी याद करते हैं जिससे उनकी निरन्तर उन्नति होती रहती है।

संसार में जितने मनुष्य हैं प्रायः सबका कुछ न कुछ कर्त्तव्य अवश्य होता है। कर्त्तव्य दो प्रकार का होता है। एक अपनी ओर हमारा कर्त्तव्य, और एक औरों के प्रति हमारा कर्त्तव्य। दोनों का पालन करना बड़ा ही आवश्यक है। जिन सब कार्य्यों से अपना हित साधन हो, अपना आत्मा जिन सब साधनों के अभ्यास से उन्नत हो सके, स्वास्थ्य जिन सब कार्य्यों से उत्तम बना रहे वही मुख्यतया अपनी ओर हमारा कर्त्तव्य है। और हमारे जिस कार्य्य से दूसरों को भलाई हो सके, दूसरे प्रसन्न रहें वही औरों के प्रति हमारा कर्त्तव्य है। इस

कर्त्तव्य-पालन

पर बालकों को ध्यान देना चाहिये। अपनी ओर बालकों तथा अन्यान्य सभी पुरुषों के अनेक कर्त्तव्य हैं। औरों के प्रति जो हमारे कर्त्तव्य हैं अथवा दूसरों के लिये हमें जो कुछ करना पड़ता है उसमें परस्पर के साधारण व्यवहार पर ध्यान देना चाहिये। सदा इस बात को ध्यान में रखना उचित है कि हम कोई ऐसा अनुचित कार्य्य न करें जिससे अन्यान्य अप्रसन्न हों। अपने तथा अपने वचनों को इस प्रकार का बनाये रखना उचित है कि जिससे किसी को अश्रद्धा न उत्पन्न हो सके। शरीर में यदि किसी प्रकार का दोष, घृणोत्पादक घाव अथवा फोड़े हो गये हों तो उन्हें छिपाये रखना उत्तम है। सदा स्वच्छ वस्त्रों का व्यवहार करना चाहिये। आपस वालों से

पूर्ण प्रेम के साथ रहना उचित है। उनसे कभी भूल करके भी बिगाड़ न करना चाहिये। प्रत्येक विद्यार्थी को मेल के साथ रहना अच्छा है। किसी के ऊपर किसी प्रकार का सङ्कट पड़ जाय तो यथासाध्य उसमें हार्दिक सहानुभूति दिखलानी, और हो सके तो उसके दुःख दूर करने का शीघ्र प्रयत्न करना चाहिये। यदि कोई अपने यहाँ आवे तो यथा-योग्य उसकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये। और यदि कोई किसीके साथ दुष्टता करे और उससे किसी प्रकार की हानि नहीं हो तो उसे क्षमा कर देना चाहिये। इसके अनन्तर बोलचाल और अन्य व्यवहारों पर भी ध्यान देना उचित है। झूठी, कठोर, गर्वपूर्ण और लज्जा प्रकाश करने वाली बातें किसी को यदि वह अपने से नीच भी हो न कहनी चाहिये। इनके अतिरिक्त अभी बहुत से ऐसे व्यवहार हैं जिनका पूर्ण पालन करना चाहिये। उन सब प्रति दिन के व्यवहारों को मैं यहाँ लिखना उचित नहीं समझता। बालक उन्हें स्वयं समझ सकते हैं। परन्तु प्रसङ्ग वशात्

परोपकार

जैसे आवश्यक विषय पर कुछ विचार प्रगट कर देने की बड़ी ही आवश्यकता जान पड़ती है। इसके विना विषय अधूरा सा जान पड़ता है। इस परोपकार का सदाचार से बड़ा ही समीपी सम्बन्ध है। दोनों में परस्पर बड़ा मेल है।

परोपकारी पुरुष सबके हृदयों के राजा और उर मोहने वाले मोहन हैं। परोपकारियों के कीर्त्ति-कुसुम की सुगन्धि अनायास ही सर्वत्र फैल जाती है। शरीर की शोभा वास्तविक जैसी चाहिये वैसी यदि है तो परोपकार से ही। कवि ने कहा है:—

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्नतु कङ्कणेन।
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्नतु चन्दनेन॥

अर्थात् कान की शोभा कुण्डल पहनने से नहीं प्रत्युत शास्त्र सुनने से। हाथ की शोभा कङ्कण से नहीं वरन् दान देने से। यों ही करुणाशील पुरुषों की शरीर-शोभा चन्दन लगाने से नहीं प्रत्युत परोपकार से है। औरों का दुःख अपने से अधिक जान अपने दुःख को तृणवत् समझ सब प्रकार से अपना भलाई करते हुए दूसरों की सहायता में रत रहना ही परोपकार है॥ यह कई प्रकार से किया जा सकता है। किसी किसी ने कहा है कि (१) कायिक (२) वाचिक और (३) आर्थिक इन्हीं तीनों से इसकी सिद्धि हो सकती है। यदि शारीरिक परिश्रम से ही किसी प्राणी को लाभ पहुँच सकता हो, उसी के न करने से वह दुःखी हो, दूसरों की सहायता चाहता हो और जिसके करने में वह स्वयं असमर्थ हो तो ऐसे कार्य्यों में सहायता पहुँचाकर उसे सफलता प्राप्त करा देना कायिक परोपकार है। इसी प्रकार केवल वचनों से भी परोपकार हो सकता है जिसको वाचिक अथवा वाचनिक परोपकार कहते हैं। आर्थिक वह है जो केवल अर्थ (द्रव्यादि) से ही हो सकता है। उपर्युक्त दोनों से इस तीसरे का दरजा विशेष है। आजकल, नहीं नहीं सर्वदा, भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् तीनों कालों में आर्थिक से जितनी सिद्धि होती है उतनी किसी और से नहीं। सभी कार्य्यों में द्रव्य की आवश्यकता पड़ा करती है। यदि कोई अन्न से दुःखी पुरुष भूखों मर रहा है या ऋतुओं की ताप से पीडित हो रहा है ऐसे समय में यदि कोई उसे वाचनिक परोपकार से सन्तुष्ट करना चाहे तो व्यर्थ है, केवल वचनों से भूख की तृप्ति नहीं हो सकती तथा ऋतु-ताप भी

शमन नहीं हो सकता । वाचनिक तथा कायिक परोपकार समय समय पर काम करते हैं, दुःख के ऐसे समय में नहीं। विना द्रव्य के परोपकार की उतनी मर्य्यादा भी नहीं है। दान देना, दीनदुखियों को अन्नवस्त्रों से सन्तुष्ट करना आर्थिक परोपकार के ही अंग हैं, जिनकी मर्य्यादा, जिनकी महत्ता असीम है। ऐसे सत्कार्य्य की कि जिसके करने के लिये सभी सद्ग्रन्थ सहमत हैं हम प्रतिष्ठा नहीं करते । इस के विरुद्ध कार्य्य कर ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करते हमें संकोच भी नहीं होता। पारलौकिक एक भी बात का भय नहीं लगता। हम जड होकर धर्म से विमुख हो गये हैं। दीन दुखियों को एक पैसा दान देना, शक्ति रहने पर भी, बड़ा भारी जान पड़ता है । शक्ति-सम्पन्न तथा धनवान होने पर भी हम लोग दान द्रव्य का गँवाना या निरर्थक फेंक देना समझते हैं। यदि दिया भी तो ऐसी करनी पर पीछे पश्चात्ताप करना पड़ता है। इसकी तनिक भी प्रतिष्ठा हमारे हृदय में नहीं है। मुझे यह भी भली भाँति ज्ञात है कि दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं होकर पुनः कई गुना अधिक दूसरे रूप से शीघ्र आ पहुँचता है। देखिये ! पानी के विन्दुओं को, जलकणों को सुखाकर भाप के रूप में बना देने वाली सूर्य्य की किरणें प्यास से दुःखी हो समुद्र से याचना कर रही हैं । मर्य्यादाशील एवम् दान-बीर समुद्र अपने जलदान में तनिक भी संकोच नहीं करता, सूर्य्य की किरणों को यथोचित तृप्त कर ही देता है। जितना दान किरणों को मिला उतना जल समुद्र से घटा तो अवश्य, पर फिर वर्षा द्वारा दान दिये हुए से भी अधिक शीघ्र ही आ पहुँचा। दानियों का धन घटता नहीं, यदि वह दान रूप से गया तो किसी अन्य रूप से निश्चय आ पहुँचता है। जो दान देना

नहीं जानते उन्हें फिर मिलता भी नहीं। सब बातों को जानते हुए भी परोपकार और दान पर तनिक भी ध्यान नहीं। सर्वत्र इसका नितान्त अभाव देखा जाता है। स्वार्थ के साम्राज्य में हम सब कुछ भूल गये हैं। यदि मुझे पेट भर अन्न मिलता है, कुछ आनन्द से जीवन व्यतीत होता है और दूसरे किसी का दबाव भी मेरे ऊपर नहीं है तो दूसरों की चिन्ता भी कुछ नहीं है। हमारी ऐसी दशा शोचनीय है। भूख से दुःखी, हिमताप से पीडित पुरुष को देखकर हमें सोचना चाहिये कि यदि हमारी भी आज ऐसी ही दशा रहती, यही दुःख देखना पड़ता, ऐसे ही कष्ट में जन जन से याचना पड़ता तब हमारी कैसी दशा होती, जो दीन दुखी वस्त्रहीन होकर हिमताप सहन कर रहा है उसी प्रकार यदि मैं भी वस्त्रहीन होता तो शरत्काल में दुःखद शीत मुझे कितना दुःख देता, पर हमारा ऐसा सोचना दूर रहे, हम उन की ओर तनिक दृष्टि डालने में अपने को अपमानित समझते हैं। हमारे ऐसे ही विचारों से परोपकार जैसे पवित्र कार्यों की अवनति देख पड़ती है। हम इन्हीं विचारों से दुःखी हो रहे हैं। यदि ऐसे ही विचारों को हम हृदय से निकाल बाहर करें, दीन-दुखी बन्धु-बांधवों की सहायता में तन मन धन से रत हो जायँ। अपने पवित्र कर्म की अब भी पहिचान कर सकें तो बिगड़ी हुई बात भी शीघ्र बन जायगी। सब तरह के लाभ हस्तामलक हो जायँगे।

ईश्वर के रचे हुए सब प्राणी निज बन्धु हैं। अतएव उनके दुःख सुख में हमें भी भाग लेना हमारा कर्त्तव्य है। अपने पूर्व पुरुषों की राह पर चलना हमें सर्वथा उचित है। राजा हरिश्चन्द्र के दान की बड़ाई सभी जानते हैं। आपने इसके

लिए अपना तन मन धन सभी बेच डाला था। आप बड़े दानवीर थे। आपका यश-सौरभ नित नवीन हुआ जा रहा है। हमारे पूर्वज ऐसे ही दानवीर होते थे। महाकवि कालिदास-रचित रघुवंश के पाठक जानते होंगे कि चक्रवर्ती राजा रघु ने किस प्रकार अपनी सारी सम्पति यज्ञ में दान कर स्वयं मिट्टी के वर्तनों से अपना काम चलाया था। दान देकर कैसा कैसा शारीरिक कष्ट उठाया था, इस प्रकार धनहीन होने पर भी उसी समय कौत्स ऋषि को किस प्रकार उन्होंने करोड़ों रुपये का सोना दान दिया था। हे दानवीर चक्रवर्त्ती राजा रघु ! आप धन्य थे। आपका यश स्मरण कर साथ ही शोक भी होता है कि आपकी ही सन्तान हम हैं और हममें इसकी इतनी हीनता। हमारी बुद्धि ऐसी मलिन हो गई है कि निज बन्धु को भी दुःखी देख हमारा हृदय नहीं पसीजता। सहानुभूति की बात दूर रखिये। दुःखियों को और दुःख दे उन्हें फँसा देना ही हमें बड़ा प्रिय जान पड़ता है। परोपकार के विचार से न तो हममें जातिभक्ति है और न देश-भक्ति, जिन दोनों की बड़ी ही आवश्यकता है। इन गुणों के अभाव रहते हम उन्नत नहीं हो सकेंगे। हमारे सभी मनोरथ और प्रयत्न विफल होते जायँगे। पारस्परिक सहायता (कायिक वाचिक परोपकार), जातीय प्रेम आदि के न रहने से ही हमें छोटी छोटी बातों में भी दुःख उठाने पड़ते हैं, बाधायें आ खड़ी हो जाती हैं। इन सब गुणों से यदि रहित है भी तो केवल हमारा भारतवर्ष। बालको ! इस सम्बन्ध में हमारा तुमसे निवेदन है कि इस अभाव की समय पा पूर्ति करो। तुम्हीं से हमें बड़ी आशा है। जिस भारत में ऐसे ऐसे परोपकारी पुरुषों का जन्म हुआ है और ऐसे ऐसे पुरुषों से जो

अपने को गर्वित समझता था कि जिनकी कीर्ति आज भी भूतल पर नित नवीन हो रही है, उन्हीं पूर्वजों की सन्तान हम हैं। हमारी यह अवस्था सर्वथा शोकजनित है। पारस्परिक सहायता तथा जातीय प्रेम की दुर्बलता से ही हमें अधःपतित होना पड़ा है। जातिभक्ति भी अनूठी चीज़ है। देखिये इसी शुभगुण के आश्रम से इंगलैण्ड तथा जापान उन्नति के किस ऊँचे शिखर पर चढ़े हुए हैं? अंग्रेज़ जाति से कुछ खट पट मचाने वाले विजातियों का उनकी तोपों की भयानक वीर गर्जन से कलेजा दहल उठता है। जातीय प्रेम उनके नस नस में भरा हुआ है। जातीय श्रद्धा में ये उदाहरण देने के योग्य हैं। जातीय अपमान उनसे नहीं सहा जाता। ठीक है, ऐसा ही होना भी चाहिये, इन्हीं सब गुणों के कारण ये देश प्रतिष्ठा तथा धन सम्पन्न हैं। बालको! जातीय प्रेम तथा देशभक्ति के निमित्त उपर्युक्त लेख से शिक्षा ग्रहण करो। पारस्परिक सहायता में इन्हीं का पथ पकड़ो। बिना परोपकार पर ध्यान दिये काम नहीं बनेगा। औरों के प्रति तुम्हारे कर्त्तव्यों में यह सबसे प्रधान है। बालको! औरों के प्रति इन सब कर्त्तव्यों के अतिरिक्त अभी अपने प्रति कर्त्तव्य भरे पड़े हैं जिनका सदाचार से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब उन्हीं विषयों पर विचार करना चाहिये।

धर्म

सदाचार व्रत के पालनार्थ तथा इसकी पूर्ण प्राप्ति के लिये उपर्युक्त बतलाये हुए कई साधनों के अतिरिक्त सबसे मुख्य तथा प्रबल साधन धर्मानुकूल आचरण तथा धर्मपालन है। धर्म शब्द से हमारा अभिप्राय किसी मत से, किसी मज़हब

से, किसी रिलीजन से तथा किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं है प्रत्युत जिसके न करने से हम दोषी हैं, हमारा जीवन निस्सार और निरर्थक है, हम तुच्छ हैं, सदाचार से सैकड़ों कोस दूर हैं, वही धर्म है। बड़ों की आज्ञा का पालन करना, ऊपर जिनका कुछ वर्णन हो चुका है, सत्य बोलना, इन्द्रियों को वश में रखना, ईश्वरोपासना, ईश्वर के किये हुए उपकारों के बदले उनका कृतज्ञ होना, प्राणिमात्र पर दया रखना और उन्हें न सताना आदि धर्म के अंग प्रत्यंग हैं, जिनका पालन करना प्रत्येक मनुष्य को, जो सदाचारव्रतधारी हैं, परमावश्यक एवम् उनका मुख्य कर्त्तव्य है। संसार में कुछ न कुछ करने ही के लिये मनुष्यों को जन्म धारण करना पड़ता है। बिना किसी प्रकार का कार्य्य किये मनुष्य सुख नहीं प्राप्त कर सकता। जानना पड़ता है कि संसार में हमारा क्या कर्त्तव्य है। बिना इसके जाने जीवन का उद्देश्य सफल नहीं हो सकता। इसी कर्त्तव्य को पूर्ण करने के लिये हमें संसार में आना पड़ा है। कर्त्तव्य वह है जिसका करना हमारा परम धर्म और परमावश्यक है और उत्तम करने योग्य कार्य्य को ही हम कर्त्तव्य कहते भी हैं। संसार में प्राणियों के अनेक कर्त्तव्य हैं। मनुष्यों का जीवन कर्त्तव्यों से भरा पड़ा है, जिधर देखिये कर्त्तव्य ही कर्त्तव्य दीख पड़ते हैं, जिनका पूरा पूरा पालन मनुष्यों को करना ही चाहिये। कथन का सार यही कि मनुष्यों के जितने कर्त्तव्य हैं उनमें धर्मपालन सबसे प्रधान है। मनुष्य के सदाचारजीवन का धर्म ही मुख्य मूल है, इसी के प्रतिपालन से सदाचार का पालन हो सकता है। बिना इसके पालन किये सदाचारी बनना कठिन ही नहीं प्रत्युत सर्वथा असम्भव सा प्रतीत होता है।

धर्म क्या वस्तु है, किन किन गुणों को धर्म कहते हैं, अब इसी पर विचार किया जाता है। सारे संसारका मूल आधार धर्म ही है। सभी उत्तमोत्तम गुणों का समावेश इसी धर्म के अन्तर्गत है। धर्म शब्द की पूरी व्याख्या करनी बड़ी कठिन है। धर्म के प्रतिपालन करनेवाले सत्पुरुषों को धार्मिक जन कहते हैं। उनका आत्मा परम शुद्ध और महाबलवान होता है। उनको अपना यश विस्तार करने में किसी वस्तुविशेष की आवश्यकता नहीं। धार्मिक एवम् सदाचारी पुरुषों को मनुष्य आप ही आप प्रतिष्ठा का पात्र समझ प्रीतिपूर्वक अपने हृदय में स्थान देते हैं। धार्मिक जन सर्वसाधारण पुरुषों के हृदय के राजा होते हैं। प्रेम पूर्वक वे सभी के हृदय पर राज्य करते हैं। जिस प्रकार सूर्य की किरणें अनायास सर्वत्र फैल जाती हैं उसी प्रकार धार्मिक पुरुषों की कीर्ति चतुर्दिक् अनायास फैल जाती है। धर्माचरण मनुष्यों की एक बहुत बड़ी सम्पत्ति है जिससे अमित यश की प्राप्ति होती है। अब धर्म की संक्षिप्त परिभाषा यही हो सकती है कि जिन जिन उत्तम कार्यों के करने से मनुष्य न्यायी, दयालु, सदाचारी, सत्यवक्ता, सत्यपथगामी आदि उत्तम गुणों से विभूषित कहला सकता है अथवा जीवन धारण करने पर जिन जिन सुकार्यों का पालन एवं धारण हमको करना ही चाहिए, जिसके किये बिना हम निरपराध नहीं कहला सकते, ईश्वर की आज्ञाओं का जिसके बिना उल्लंघन होता है; जो इस जगत् का आधार स्वरूप है जिस पर भगवान की सारी सृष्टि अवलम्बित है और जो इस जगत् को धारण करता है, जिसके बिना सब ऐश्वर्य सहित एवं विशेष चतुर होने पर भी मनुष्य कुछ नहीं तुच्छ है, अथवा सांसारिक और पारलौकिक यश और सुख जिसके

द्वारा उपलब्ध होते हैं विद्वान एवम् ज्ञानी पुरुषों ने उसी को धर्म कहा है जो संस्कृत के धृ धातु से निकला है, जिसका अर्थ धारण करना है अर्थात् जिसके धारण करने से शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति हो वही धर्म है। मत, मज़-हब, सम्प्रदाय वा रिलीजन आदि इस शब्द के पर्य्यायवाची नहीं। धर्म मनुष्य मात्र के धारण करने योग्य है। यह धर्म सार्वभौम है। इसके अङ्ग प्रत्यङ्ग और लक्षणों के सारगर्भित भाव को सारे संसार के मनुष्य सानन्द स्वीकार करते हैं। हमारे आचार्य परममान्य राजर्षि मनु भगवान धर्म की व्याख्या करते हुए जिन जिन गुणों को धर्म बतलाते हैं उन्हें सहर्ष स्वीकार कर लेने के लिए प्रायः संसार भर के सभी सम्प्रदायों के सभ्य सहमत हैं। धर्म एक नित्य, अविनाशी और सनातन वस्तु है, वह सत्य है, अतएव सत्यशील (सन्ध) परमात्मा की वह सम्पत्ति है। उसकी प्राप्ति के अधिकारी संसार भर के मनुष्य हैं। इसी की प्राप्ति करनेवाले धार्मिक कहलाते हैं। सदा-चारी तथा धार्मिकों का जीवन आदर्श स्वरूप होता है। ऐसे ही पुरुषों को महात्मा कहते हैं। दुराचारो से भी दुराचारी के चित्त में सदाचारी अपना प्रभाव डाल देते हैं। उन्हें तथा उनके चित्त को अनायास अपनी ओर खींच लेते हैं। उनमें बड़ी आकर्षण शक्ति होती है, सबके चित्त में सदाचार सम्पा-दन की चेष्टा उत्पन्न करा देते हैं। अच्छे कार्य सबको प्रिय तथा उसके विरुद्ध बुरे, सबको अप्रिय होते हैं। मनु भगवान कहते हैं कि—

आचारः प्रथमो युक्तः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।

अर्थात् सदाचारी बनना ही सबसे उत्तम आचरण है। यही वेद और स्मृतियों में कहा हुआ है। फिर भी कहा गया

है कि सदाचार का मूल आधार धर्म ही है। इसी धर्म का लक्षण हमारे आचार्य्य मनु महाराज बतलाते हैं कि

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधम्प्राहुस्साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

अर्थात् वेद तथा स्मृतिप्रति-पादित तथा सत्पुरुषों के आचरण अनुकूल कर्म करना ही धर्म है, इसके अतिरिक्त जो अपने आत्मा को प्रिय हो वही धर्म है। बालको! यहाँ ध्यान देने की बात है कि उत्तम कार्य्य ही आत्मप्रिय होता है, बुरा कार्य्य आत्मप्रिय नहीं। जिस कार्य्य के करने में आत्मा प्रसन्न हो, जिस कार्य्य को हम सर्वसाधारण के बीच प्रकट कर देने में लज्जा तथा सङ्कोच न अनुभव करें, जिस कार्य्य के करने में हमारा आत्मा निडर तथा निस्सङ्कोच भाव से कटि-बद्ध हो जाय और जिसमें उपर्युक्त तीनों बातें भी पाई जायँ वही धर्म है। पुनः मनु भगवान् सर्वमान्य धर्म बतलाते हैं कि जिनमें प्रायः सभी गुण सन्निविष्ट हैं। इन्हींके पालन करने वाले पुरुष धार्मिक तथा सदाचारी कहलाते हैं। धर्म के चिह्न श्रुति स्मृति द्वारा कहे गये हैं।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्मलक्षणम्॥

धैर्य्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि को सर्वदा बढ़ाते रहना, विद्या की प्राप्ति करना, सत्य का मन कर्म वचन से प्रतिपालन करना और अक्रोध ये ही दस सर्वमान्य धर्म के लक्षण हैं। इन्हीं दसों लक्षणों पर क्रमशः विचार किया जाता है। परम मान्य आचार्य्य मनु भगवान ने धर्म के सभी लक्षणों में सबसे प्रथम

को ही स्थान दिया है। इसके आश्रय से सभी कार्य्यों की सिद्धि होती है। इस गुण के धारण करने वाले धैर्य्यवान् तथा धीर पुरुष कहलाते हैं। धैर्य्यवालों के निकट भय का प्रवेश तक नहीं होने पाता। धैर्य्य और भय इन दोनों में बड़ी शत्रुता है। अधीर पुरुष को ही भय जान पड़ता है। जब किसी कार्य्य के करते करते उसकी समाप्ति तक न पहुँचने के पहले ही मनुष्य अधीर तथा अविश्वासी हो जाता है उस समय धैर्य्य के ही द्वारा रक्षा होती है। धर्म के प्रतिपादन में धैर्य्य उसीके साधनों में से एक मुख्य है। इससे रहित होकर यदि मनुष्य धार्मिक बनना चाहें तो उनकी अभीष्टसिद्धि कदापि नहीं हो सकती। शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि के ज्ञान और अनुभव प्राप्त करने के लिये अथवा अन्यान्य कार्य्यों के सम्पादन के लिये मनुष्य को अनेक इन्द्रियाँ तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग दिये गये हैं। इनमें से यदि एक की भी कमी हो अर्थात् अगर हाथ न हो तो मनुष्य किसी कार्य्य के करने में समर्थ नहीं हो सकता। पैर नहीं रहें तो थोड़ी दूर भी कहीं नहीं जा सकता। नाक नहीं रहे तो किसी भी पदार्थ के गन्ध का उसे लेश मात्र भी ज्ञान न हो इत्यादि। अर्थात् दसों इन्द्रियों तथा अनेक अङ्ग प्रत्यङ्ग इनमें से किसी एक के बिना भी जिस प्रकार, अन्य सबसे भी उसकी पूर्ति नहीं होती, मनुष्य निरर्थक एवं उसका जीवन व्यर्थ है उसी प्रकार ऋषि के बतलाये धर्म के दसों लक्षणों में से एक की भी कमी हो तो मनुष्य पूर्ण धार्मिक नहीं कहला सकता। सदाचार रूपी शरीर के धैर्य्य आदि धर्म के दसों लक्षण अङ्ग प्रत्यङ्ग तथा इन्द्रियाँ हैं। अतएव यदि मनुष्य अपने को सदाचारी बनाना चाहते हों, यदि वे

चाहते हों, सर्वसाधारण से यदि उन्हें यशप्राप्ति की अभिलाषा हो, तो धर्मकार्य्यसम्पादन के लिये उन्हें धैर्य्य को अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये जिसके द्वारा कामना सिद्ध हो सकती है।

दुःख के अथाह सागर की लहरों में डूबते उतराते हुए मनुष्यों के लिये वह धैर्य्य पोत सदृश है। जिस प्रकार उत्तम नौकाओं की सहायता से मनुष्य दुःखसागर के तट पर जा पहुँचते हैं। जिस प्रकार सूर्य्य की किरणें अन्धकार का नाश करती हैं, अग्नि जिस प्रकार तृणादि को जलाकर नष्ट भ्रष्ट कर देती है उसी प्रकार अपार दुःख को भी यह धैर्य्याग्नि तृण के सदृश भस्म कर डालती है। दुःख के समय का यदि कोई परम रक्षक है तो वह धैर्य्य ही है।

भगवान रामचन्द्र पिता की आज्ञा से बनवास को जा चुके हैं। सुमन्त मन्त्री ने श्रीरामचन्द्रजी के फिर गृह की ओर न लौटने के समाचार से महाराज दशरथ को सूचित कर दिया है। महाराज दशरथ अपने पुत्र के विरहसागर में डूबते उतराते हैं। उनके दुःख की सीमा भी नहीं जान पड़ती। उसी समय माता कौशल्या दशरथ को उपदेश देती हैं :—

उर धरि धीर राम महतारी। बोली बचन समय अनुहारी॥
नाथ समुझि मन करिय विचारू। राम वियोग पयोधि अपारू॥
करन धार तुम अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरजु धरिय तो पाइय पारू। नाहित बूड़िहिं सब परिवारू॥

कौशल्या का कथन है कि हे राजा, आप धैर्य्य धारण करें, नहीं तो वह नौका जिसपर सभी प्रिय सवार हैं शीघ्र डूब

को प्राप्त हुए। चक्रवर्ती राजा दशरथ के वियोग में उनकी रानियाँ शोकसन्तप्त हो बड़ी ही अधीर सी हो अपार दुःख अनुभव कर रही थीं उनके कष्ट का पारावार न था परन्तु उनका ऐसा विपत्तिकाल भी महर्षि वशिष्ठ के प्रदान किये हुए धैर्य्य से भूल सा गया। ऋषि के प्रदान किये हुए धैर्य्य ने कौशल्यादि रानियों का अपार दुःख समूल नष्ट कर दिया। वास्तव में विपत्तिकाल का दुःख नष्ट करना धैर्य्य का प्रधान कार्य्य है। उत्तम उत्तम सुखों की भी प्राप्ति धैर्य्य के अवलम्बन से होता है। धैर्य्य धारी पुरुष सिंहसमान होते हैं। वे उद्योग करने में तनिक भी नहीं हिचकते। उन्हें अपने ही बाहुबल का सबसे अधिक विश्वास रहता है। दूसरे की आशा ऐसे पुरुष नहीं करते। ये किसी काम को प्रारब्ध के भरोसे नहीं छोड़ते। प्रारब्ध और उद्योग, इन दोनों में उद्योग ही उत्तम है। धैर्य्य-धारी पुरुष प्रारब्ध के भरोसे माथे पर हाथ दिये बैठे रहना महा निन्दनीय समझते हैं। "उद्योग के ही द्वारा वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं" धैर्यधारियों का यही मुख्य सिद्धान्त है। संसार में उत्तम, मध्यम, और नीच यही तीन प्रकार के लोग रहते हैं। नीच पुरुष किसी कार्य्य को विघ्नों के भय से आरम्भ ही नहीं करते हैं। मध्यम पुरुष प्रारम्भ तो कर देते हैं परन्तु यदि उसमें किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित हो गया तो अधीर हो कार्य्य की समाप्ति तक पहुँचने में असमर्थ हो बीच में ही छोड़ देते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त उत्तम पुरुष वे हैं जो अनेक विघ्नों के पड़ने पर भी आरम्भ किये हुए कार्य को समाप्त किये बिना नहीं छोड़ते। धैर्यधारी ही इस प्रकार

के उत्तम पुरुषों में गिने जाते हैं। वे विघ्नों के भय से तनिक भी नहीं डरते। धैर्य्य ही का अवलम्बन कर कार्य्य बिगड़ जाने पर भी बिना उसे बनाये ऐसे पुरुष चैन से नहीं रह सकते।

कोई भी नवीन कार्य्य प्रथम में ही उन्नतावस्था को प्राप्त नहीं होता। बारम्बार के अभ्यास एवम् रचनाचातुरी से कोई कार्य्य तथा कोई वस्तु उत्तमता को प्राप्त होती है। उन्नति तथा सुरूपता का विकाश क्रम क्रम से उपलब्ध होता है। कोई कार्य्य यदि प्रारम्भ में उत्तमतया समाप्त नहीं हो सके तो अधीर होकर उसका परित्याग कर देना कदापि उचित नहीं। कार्य्य तथा अन्यान्य कोई वस्तु बनते बनते बनती है। आरम्भ के पश्चात् शीघ्र ही उसकी सफलता नहीं मिल सकती। अतएव असफल होने पर उसका पुनः आरम्भ होना चाहिये। ऐसे समय में यदि धैर्य्य की न्यूनता होगी तो कदापि कार्य्य पूर्ण नहीं हो सकेगा। फ्रांस देश के सुप्रसिद्ध एञ्जीनियर श्रीयुत माननीय ई० पैकलेट यदि आरम्भ से ही अधीर हो अपना कार्य्य छोड़ देते, अभीष्ट-सिद्ध के लिये बारम्बार असफल होने पर भी यदि वे २५ वर्ष तक प्रगाढ़ परिश्रम से धैर्य्य छोड़ अपना मुख मोड़ देते तो घण्टे में ३०० मील चलने वाले हवाई एञ्जिन का आज कौन आविष्कार करता। ऐसा बहुमूल्य रत्न पाने के उपलक्ष में संसार आज किसको धन्यवाद देता। स्मरण रखिये किसी भी नई वस्तु के आविष्कार में आविष्कर्त्ता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बारम्बार असफल होना ही पड़ता है परन्तु इनमें से किसी भी कारण से अधीर न होकर धैर्यधारी पुरुष अपने पथ का कंटक दूर करते हुए अपने कर्म-वीरत्व का परिचय दे ही डालते हैं। कर्मवीर पुरुषों में

धैर्य धारियों के सभी सुलक्षण देख पड़ते हैं। अथवा यों कहिये कि धैर्य के ही अवलम्बन से पुरुष कर्मवीर संज्ञा प्राप्त करने का अधिकारी होता है। धैर्य सचमुच एक अनुपम रत्न, एवम् जीवन को समुत्तम बनाने का एक प्रबल उपचार है। न्यायपथ से धैर्यधारी भूल कर भी विचलित नहीं होते। देखिये ऐसे ही पुरुषों के विषय में नीतिनिपुण भर्तृहरि जी क्या कहते हैं :—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वास्तुवन्तु,
लक्ष्मीःसमाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

अर्थात् नीति जानने वाले पुरुष निन्दा करें वा स्तुति, लक्ष्मी का यथेष्ट आगमन हो अथवा वह चली जाय, आज मरना हो या कल्पान्त में, इन सब में किसी एक का भी विचार न कर धैर्यवान पुरुष अपने न्याय पथ से तनिक भी विचलित नहीं होते। इसी धैर्य के द्वारा मनुष्यों की मृतप्राय नसों में शक्ति का संचार होता है। उद्योग तथा कार्य्य में तत्परता की एक विचित्र शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। तनिक प्राचीन इतिहासों पर दृष्टि फेरिये। समर भूमि में परास्त हुए कई राजाओं ने इसी के आश्रय से पुनः अपने शत्रु को पीछा दिखा अपना सर्वस्व प्राप्त किया है। यूनान देश के बादशाह परम पराक्रमी सिकन्दर ने जब भारत के मगध देश पर चढ़ाई करने के लिये अपनी सेना को सिन्धपार कर जाने की आज्ञा दी उस समय सिन्ध जैसी गहरी नदी की भयंकरता एवम् मगधनरेश का प्रभुत्त्व श्रवण कर सिकन्दर की सेना ने धैर्य तथा विजय की आशा छोड़ अपना सभी पौरुष भुला-

सा दिया। परन्तु बादशाह सिकन्दर बड़ा ही धीर पुरुष था। धैर्य्य की प्रतिष्ठा उसके हृदय में पूर्ण थी। पौरुष तथा धीरज-प्रदायक वीररसभरे शब्दों में उसने अपनी सेना को इस प्रकार प्रबोधित किया कि वह पहले से भी अधिक धैर्य्याव-लम्बी बन गई। अन्त में उस सेना ने सिन्ध पार कर ही लिया। केवल धैर्य्य का यह कमाल था। इसी सिकन्दर बादशाह से लड़ते हुए पंजाब के पराक्रमी नरेश पुरु के अपूर्व धैर्य्य का श्रवण कर आश्चर्य्य होता है। सिकन्दर की सेना ने पुरु की सारी सेना भगा डाली। रणक्षेत्र में पुरु के अतिरिक्त उसका एक भी अनुयायी उसकी सहायता के लिये नहीं रह गया। सिकन्दर के प्रबल तेज से सभी मलिन से हो गये। परन्तु धैर्य्यधारियों में आदर्श स्वरूप महिपाल पुरु रणक्षेत्र में अकेले हाथी पर डटा रहा। कदम बराबर आगे को ही बढ़ाता गया। पुरु की ऐसी दशा देख सिकन्दर ने उसकी धीरता तथा बहादुरी की बड़ी ही प्रशंसा करनी प्रारम्भ की। सिकन्दर ने कहा, पुरु! हमारे समीप अब निर्भर होकर चले आइये। अब आपके प्रति मुझमें वैर भाव नहीं है। निदान पुरु ने ऐसा ही किया। सिकन्दर ने कहा, हे राजा! रणक्षेत्र में अकेले तुझे हाथी पर डटा देख तेरी धीरता तथा वीरता का स्मरण कर मुझे तो चकित होना पड़ा है। अब बताइये, आप के साथ मेरा कैसा बर्ताव होना चाहिये। पुरु ने फिर भी निर्भय होकर कहा "जैसा व्यवहार राजा का राजा के प्रति होता है"। सिकन्दर ने ऐसी निर्भयता का उत्तर पाकर कहा हे पुरु! तुम धन्य हो। तुम अपना राज्य आप भोगो। धैर्य्यधारियों में तुम आदर्शस्वरूप हो। राजा को वास्तव में ऐसा ही धैर्य्यवान होना चाहिये। कोई भी आपका शत्रु

आपको पराङ्मुख नहीं कर सकेगा। बालको! देखिये धैर्य्य के ही अवलम्बन से राजा पुरु ने अकेले अपने सारे साम्राज्य की रक्षा की परन्तु उनकी अधीर सेना से कुछ भी नहीं हो सका।

दिग्विजय की इच्छा रखने वाले परमपराक्रमी फ्रांस देश के राजा वीर नैपोलियन ने रूस देश पर विजय प्राप्त करने के लिये अपनी एक लाख सेना उक्त देश की ओर रवाना की। यूरोप के बर्फ से ढके हुए एवम् ऊँचे आल्प्स पर्वत पर चढ़ कर पारकर जाना महाकठिन काम था। किसी को भी पर्वत पर चढ़ने का साहस नहीं होता था। वीर बोना (पार्ट) ने उन्हें धीरज दे उत्तेजित किया। उसने कहा कि "संसार में ऐसा कोई कार्य्य नहीं है जो उद्योग और धैर्य्य के आश्रित रहने पर न समाप्त हो सके। कठिन से कठिन कार्य्य मनुष्य इन के द्वारा कर सकता है। "अमुक कार्य्य नहीं हो सकता तथा अमुक कार्य्य का समाप्त हो जाना असम्भव है" ऐसा कथन उत्साहरहित तथा आलसियों का है। उन्हीं के शब्द कोष में "असम्भव" शब्द मिलता है, धैर्य्यवानों के लिये कोई कार्य्य असम्भव नहीं"। इस प्रकार नैपोलिन ने उन्हें बहुत धीरज देकर उत्तेजित किया। जिस विशाल पर्वत पर एक लाख सेना में से किसी एक ने भी चढ़ने का साहस नहीं किया उसी पर्वत के समीप खड़ा वीर बोनापार्ट चढ़ जाने के लिये आप बड़ी तेज़ी से आगे को बढ़ा, राजा की ऐसी दशा देख उसकी सेना ने भी क्रम क्रम से चढ़ना आरम्भ कर ही दिया। देखिये! ऐसी जगह पर यदि बोनापार्ट के सदृश कोई धीर पुरुष नहीं रहता तो कार्य्यसाफल्य की कोई भी आशा न थी। इतिहासग्रन्थों में आप ऐसी घटनाओं की भरमार पावेंगे।

धैर्य्य से बल पौरुष की निरन्तर वृद्धि होती है। चाहे आप भीम के सदृश भी बली क्यों न हैं, परन्तु आपमें बल-प्रयोग का साधन एवम् उसका यत्न धैर्य्य नहीं तो किसी भी स्थान पर विजय की कम आशा है। साइकिल पर चढ़ने की इच्छा रखने वाला पुरुष यदि एक बार गिरकर कष्ट पाने के कारण फिर चढ़ने का उद्योग न करे तो वह जिस प्रकार साइकिल की कला से अनभिज्ञ हो जाता है उसी प्रकार यदि सब बातों में इस कायरता का अनुसरण किया जाय तो सांसारिक एक भी कार्य्य सिद्ध नहीं हो सकेगा, प्रत्युत धैर्य्यपूर्वक बार बार धैर्य्य के अभ्यास से ही समुत्तम फल की प्राप्ति होती है।

प्रायः ऐसा देखा वा सुना गया है कि बहुत से लड़के परीक्षा में उत्तीर्ण न होने पर एकदम अधीर हो आत्मघात तक कर डालने में भी संकोच नहीं करते। यह उनकी बड़ी भूल है। ऐसे समय उन्हें धैर्य धारण कर फिर सफलता प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिए। अधीरता, उद्धतता, चंचलता और घबड़ाहट इनमें बहुत थोड़ा अन्तर है। प्रायः ये एक ही अर्थ के बोधक हैं। इन सब अवगुणों से जितनी हानि है उनसे कहीं अधिक लाभ धैर्य से है। रणक्षेत्र में डटी हुई सेना ने यदि धैर्य का परित्याग किया तो उसके विजय की जड़ कट गई समझिये। इसी के आश्रय से विजय की प्राप्ति होती है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। नीति में लिखा है कि "सम्पत्ति में जिसको हर्ष नहीं होता, विपत्ति में विषाद नहीं होता और जो रणक्षेत्र में धीरज रखता है, ऐसे त्रिभुवन तिलक पुत्र विरलेही माता उत्पन्न करती हैं। विपत्तिकाल में विस्मय करना,

धैर्य छोड़ देना यह कायरता का चिह्न है। अतएव धैर्य का अवलम्बन कर उपाय सोचना ही श्रेयस्कर है।"

मनुष्य को झूठे कार्यों तथा अन्यान्य कुकर्मों से ही घबराहट होती है। जीवन भर दुष्कर्म करने तथा दूसरों को दुख देने से मरने के समय महमूद ग़ज़नवी ऐसे बादशाह को जिस प्रकार शोक तथा पश्चात्ताप करना पड़ा था, जैसी घबराहट हुई थी अथवा औरंगज़ेब बादशाह ने मरते समय जैसा पत्र अपने पुत्र को लिखा था वह इतिहास पढ़नेवाले सज्जनों से छिपा नहीं है। सारांश यह कि कुकर्मों से ही घबराहट होती है जिससे मनुष्य अधीर हो उठता है। अतएव कुकर्मों से सदा घृणा करनी चाहिए। अधीर होने से पराजय और पराजित होने से खेद एवम् शोक होता है। खेद से बुद्धि जाती रहती है जिससे शीघ्र नाश होता है। अतएव हर समय अधीरता का परित्याग करना ही उत्तम है। धीर पुरुषों के दिन सदा सुख से बीतते हैं। विपत्ति का उनके ऊपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वे प्रत्येक कार्य को धैर्यपूर्वक करते हैं। उसके बिगड़ने का भी भय नहीं रहता क्योंकि प्रयत्न द्वारा फिर करने से वे डरते नहीं हैं। धैर्य के द्वारा धन की भी प्राप्ति होती है जिससे मनुष्य धर्म कर सकता है। धीर पुरुष सदा आनन्दित रहते हैं। इन्हीं सब कारणों से धैर्य को प्रथम स्थान देकर ऋषिवर्य बतलाते हैं कि धर्म का दूसरा लक्षण

क्षमा

है। यह संस्कृत के क्षम् धातु से बना है जिसका अर्थ सहन कर लेना है। सहनशीलता और सहिष्णुता ये क्षमावानों के ही गुण हैं। किसी के किये हुए अपकार के बदला लेने के भाव का नष्ट करना ही सच्ची क्षमा है। अथवा यदि कोई मनुष्य

किसी प्रकार का अपराध करे तो उसके अपराध को भूलकर उससे इसके बदले बदला लेने की इच्छा का दमन करना अथवा बदला लेने या उसके किसी अन्य प्रकार के अनिष्ट-साधन करने की इच्छा ही न उत्पन्न करना वास्तविक क्षमा है। शक्ति रखते हुए दण्ड न देने अथवा बदला लेने की इच्छा का दमन कर डालने वाले पुरुष ही सच्चे क्षमाशील हैं।

क्षमा शक्तिशाली तथा सामर्थ्यवान् पुरुषों का भूषण है। यदि कोई पुरुष किसी प्रकार का अपराध करे तो उसको दण्ड देने की शक्ति रखते हुए जो पुरुष उसके अपराधों तथा कुकर्मों का सहन कर लेते हैं, उसपर कुछ अधिक विचार की आवश्यकता नहीं समझते, वे ही क्षमावन्त कहलाते हैं। अपनी सारी इन्द्रियों तथा मन पर पूर्ण अधिकार रखने वाले पुरुषों के आत्मा में बड़ा बल रहता है। उनमें एक विचित्र मानसिक शक्ति रहती है। इसी बलवती शक्ति के आधार पर ही क्षमाशील दूसरों के अपराध तथा अन्यों के मुख से अपनी अपनी निन्दा आदि का सहन कर लेते हैं। इसी से कहा जाता है कि बलपूर्ण आत्मा वाले पुरुषों में ही यह गुण अधिक पाया जाता है। निर्बलों में क्षमा की न्यूनता देखी जाती है। जिसका आत्मा निर्बल होगा निश्चय उसमें क्षमा गुण का अधिक अभाव होगा। यदि कोई बलवान पुरुष किसी निःशक्त का किसी प्रकार का अनिष्ट साधन कर दे, निःशक्त के पास उसे दण्ड देने अथवा उससे बदला लेने का किसी प्रकार का कोई साधन भी नहीं हो और ऐसी अवस्था में निर्बल पुरुष यह कह बैठे कि मैंने अपराधी का अपराध क्षमा कर दिया तो उसका ऐसा कहना हास्य मात्र है। क्षमा शब्द का वह इस जगह व्यवहार नहीं कर सकता।

अपनी निर्बलता के कारण उससे कुछ नहीं बना। संसार से यदि दोषों तथा अपराधों का नितान्त अभाव सा हो जाय तो क्षमा की आवश्यकता भी नहीं पड़े, परन्तु ऐसा होना असम्भव है। जहाँ गुण है वहीं दोष भी उपस्थित है। संसार में यदि सुकर्म करने वाले हैं तो कुकर्म तथा अपराध करने वालों की भी कमी नहीं है। अब हमारी समझ में अपराधियों के अपराध के लिये दो ही प्रकार के साधन काम में लाये जाने योग्य देख पड़ते हैं, या तो उनका अपराध क्षमा कर दिया जाय अथवा उसके बदले यथोचित दण्ड दिया जाय। प्रायः कितने अदूरदर्शी पुरुष क्षमाशीलों को निबल कह बैठते हैं। ऐसा कहना उनकी गहरी भूल है। क्षमाशील भी बड़े सामर्थ्यवान हैं। अब क्षमा के प्रयोग की विधि पर विचार करना चाहिये।

प्रत्येक अपराध के बदले यदि इसी क्षमा का व्यवहार किया जाय, प्रत्येक अपराधी का अपराध यदि क्षमा कर दिया जाय, तो संसार का एक कार्य्य भी नहीं चल सकता। सर्वत्र उपद्रव मच जाने की सम्भावना हो जाय। राजाओं के सभी राज्य प्रबन्ध उथल पुथल हो जायँ। इन सबके अतिरिक्त अपराधों की संख्या भी विशेष बढ़ती जाय। प्रत्येक अपराधों के बदले यदि इसी क्षमा का प्रयोग किया जाय तो समझिये कि इस अनुपम गुण और उसके वास्तविक अर्थ का दुरुपयोग किया जा रहा है और दण्ड ऐसी एक सुधारने की अनुपम विधि का निरादर किया जा रहा है। यदि गवर्नमेंट इसी अर्थ में क्षमा का प्रयोग करे, सभी अपराधियों के अपराध को वह क्षमा करती जाय, तो आप ही विचारिये देश की क्या दशा हो सकती है। फ़ौजदारी तथा अदालतों द्वारा इतने

कड़े कड़े दण्ड देने पर भी, यहाँ तक कि यह बात सब कोई जानते हैं कि किसी प्रकार का अपराध करने पर दण्ड का भागी अवश्य होना पड़ता है। जब मनुष्य अपराध करना नहीं छोड़ते, बड़े बड़े उपद्रव मचा देते तथा अनेक अनर्थकारी घटनाओं के मूल बन जाते हैं तब प्रत्येक अपराध के बदले क्षमा से कहाँ तक कार्य्य चल सकेगा ? राज्यशासन तथा राज्य-प्रबन्ध के लिये दण्ड की बड़ी ही आवश्यकता है। यहाँ मतभेद हो सकता है। अतएव यहाँ थोड़ा ऐसा परिवर्त्तन होना चाहिये कि अपना अभिप्राय भी सिद्ध हो जाय और मतभेद का स्थान भी न रहे। दूर की बात जाने दीजिये, आप अपने स्कूलों में ही देख लीजिये, बालकों के अपराधों के प्रति यदि शिक्षक दण्ड न दें तो वे अपने कार्य्य में कहाँ तक सफल हो सकते हैं, उनकी शिक्षा बालकों पर कहाँ तक प्रभाव डाल सकती है। हमारी समझ में स्कूलों में सच्चे शासन के लिये दण्डविधि की बड़ी ही आवश्यकता है। कितने लड़के ऐसे होते हैं जो बिना दण्ड दिये अपना पाठ भी नहीं याद करते। यहाँ मुझे यह भी कह देने का साहस होता है कि लड़कों को सदाचारी बनाने में शिक्षक को यथासमय दण्ड का भी प्रयोग करना बहुत ही आवश्यक है। सभी लड़के एक प्रकृति के नहीं होते। शिक्षक की शिक्षा का सभी पर एक सा प्रभाव नहीं पड़ता। कुछ लड़के ऐसे भी होते हैं जो बिना दण्ड के ठीक नहीं हो सकते और अन्यान्य लड़कों को भी अपनी प्रकृति का बनाते हैं। ऐसे लड़कों को दण्ड देना परमावश्यक है। कथन का सारांश यह कि जनसमाज तथा समय की अवस्था देखने पर यह कहना पड़ता है कि अपराधों के प्रति दण्ड की आवश्यकता है।

अब विचार करना चाहिये कि अपराधों के प्रति जब दण्ड की इतनी बड़ी आवश्यकता है तब फिर क्षमा का प्रयोग कहाँ किया जाय। और ऋषि ने इस गुण की इतनी बड़ी आवश्यकता भी क्यों बताई। अपराधियों की प्रकृति पहिचान करके भी दण्ड देने का विधान है। वही दण्ड न्याय-युक्त वा न्याय-संगत कहलाता है जो सुधार की नीयत से दिया गया हो, न कि अपराधी को दुःख देने अथवा बदला लेने की नीयत से। प्रतिदिन के साधारण व्यवहारों पर दृष्टि ले जाने से जान पड़ता है कि प्रत्येक अपराध के लिये दण्ड की भी आवश्यकता नहीं है। यदि कोई अपराधी शुद्ध सात्विक हृदय से अपने दोषों के प्रति प्रायश्चित्त करे अथवा बिना जाने अज्ञान और भ्रमवश उससे किसी प्रकार का अपराध हो गया हो तो ऐसी अवस्था में क्षमा सदा ही श्रेयस्कर है। अपराध यदि हलका हो और दोषी की प्रकृति से यह बात सूचित होती हो कि "भविष्य में अब इस प्रकार का अपराध इससे नहीं हो सकेगा" तो उसके लिये भी क्षमा दान उत्तम है। बारम्बार के दोषों के दूर करने और कुमार्ग पर चलते हुए को सुमार्ग पर चलाने के लिये ही दण्ड की आवश्यकता है। अपराधी से यदि इस प्रकार की बातें न सूचित होती हों तो उसके लिये क्षमा का प्रयोग अवश्य उचित है। किसी अपराध के प्रति क्षमा करने अथवा यथोचित न्याय सहित दण्ड देने के प्रथम न्यायकर्त्ता को इस बात के विचार लेने की बड़ी आवश्यकता है कि दोषी ने किस नीयत से, किस विचार से, इस प्रकार का अपराध किया है। अपराध यदि जानबूझ कर सर्वसाधारण अथवा किसी व्यक्तिविशेष को दुःख पहुँचाने की नीयत से किया गया हो तो वह कदापि

क्षमा के योग्य नहीं है। चोर यदि पकड़ा जाय तो निश्चय ही उसे इस प्रकार का दण्ड देना चाहिये जिसमें वह भविष्य के लिये सुधर जाय। इस सम्बन्ध में अधिक क्या लिखा जाय। प्रतिदिन के व्यवहारों और बर्तावों से ये सब बातें प्रायः ज्ञात हो जाया करती हैं। बालको! यदि मनुष्य क्षमा का प्रयोग करना भलीभाँति जाने तो यह बड़ा ही उत्तम गुण है। संसार से यदि क्षमा का सर्वथा अभाव हो जाय अथवा इस गुण का अस्तित्व ही मिट जाय तो सारे के सारे प्रबन्ध उथल पुथल हो जायँ, बड़ी गड़बड़ी मच जाय। सर्वसाधारण को इस गुण की बड़ी आवश्यकता है। क्षमा के बिना मनुष्य अपराधी से या तो बदला लेने की इच्छा करेगा, नहीं तो शक्ति रहने पर दण्ड देगा। प्रत्येक छोटी से छोटी बातों में भी इसका अनुसरण किया जायगा, जिससे परस्पर प्रेम, कृपा और सहानुभूति की अवनति ही होती जायगी। यदि किसी ने तुम्हें किसी प्रकार का कटु वचन कह डाला अथवा अकारण ही गाली दे डाली तो ऐसे अपराध को क्षमा कर दो और उससे इसके बदले नम्र होकर वार्त्तालाप करो, फिर गाली देनेवाला ही लज्जित और निरुत्तर हो जायगा। यदि गाली के बदले गाली का ही प्रयोग किया जाय तो परिणाम बुरा होगा। क्षमा-प्रयोग से अपना आत्मा भी सुखी और सानन्द रहता है। क्षमाशील पुरुष बड़े दयालु होते हैं, वे सब पर दया रखते हैं और प्राणिमात्र को एक सा देखते हैं। दया के कारण ही क्षमा-वाली शक्ति प्रबल रहती है। क्षमाशील पुरुषों के शत्रु होते ही नहीं। ऐसे पुरुषों का कोई कभी भी किसी प्रकार की बुराई नहीं कर सकता। क्षमाशीलों के विषय में नीतिनिपुण चाणक्यजी का कथन है :—

क्षमा खड्गं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥

अर्थात् तृणरहित भूमि पर गिरी हुई अग्नि, जलाने का किसी प्रकार का सामान न पाकर जिस प्रकार आप से आप शान्त हो जाती है उसी प्रकार उन पुरुषों का दुष्ट मनुष्य कुछ भी अहित नहीं कर सकता जिनके हाथ में क्षमारूपी तलवार प्रस्तुत है। अभिप्राय यह कि क्षमा तलवार के सदृश है जिस प्रकार तलवार से शत्रुओं का संहार किया जाता है उसी प्रकार इस क्षमा से परस्पर उत्पन्न हुए वैमनस्य तथा भावी लड़ाई झगड़ों की जड़ का उन्मूलन किया जाता है। क्षमा और क्रोध परस्पर विरुद्ध हैं जिसके पास क्रोध होगा उसको क्षमा का अभाव होगा और जिसके पास क्षमा ऐसा उत्तम गुण है उसके निकट क्रोध नहीं आता। क्रोध के विषय में कुछ और आगे चल कर एक स्वतन्त्र विषय में लिखा जायगा। क्षमा जैसे उत्तम गुण के आश्रय से कीर्ति और धन-लाभ ये दोनों प्राप्त होते हैं। क्षमा के द्वारा मनुष्यों में कई अन्यान्य गुण आते हैं जिनके पालन से मनुष्य ईश्वर का प्रिय बन जाता है। जितने बड़े बड़े उपद्रव अनर्थकारी विप्लव आदि देखे जाते हैं विचार किया जाय तो उनका कारण बहुत ही छोटा होगा। छोटी ही छोटी बातों के बढ़ते बढ़ते महान विप्लव उपस्थित हो जाते हैं। इन्हीं छोटी बातों के मूल पर ही जिनसे परस्पर वैमनस्य की उत्पत्ति हुई, विचार कर यदि क्षमा का प्रयोग किया जाय तो अनन्त धन लाभ होता है। इतिहास पर दृष्टि ले जाने से इसके अनेक प्रमाण मिल जायँगे। क्षमाशील पुरुषों के पास धैर्य्य की भी कमी नहीं है,

जिनसे वे विपत्तिकाल का समय भी बिना दुःख अनुभव किये ही व्यतीत कर डालते हैं।

दुर्योधन के अन्याय तथा अत्याचारों और जुए में हार जाने के कारण जिस समय महाराज युधिष्ठिर जङ्गलों में परिभ्रमण कर रहे थे, जङ्गल के जल वायु तथा कंकरीली धरती पर चलने के कारण दुःख से सन्तप्त हुई उनकी पतिव्रता स्त्री द्रौपदी उसी समय कहती है कि हे राजन्! आपके क्षात्र धर्म और आपकी वीरता को धिक्कार है। एक समय वह था जब कि आप रत्नजटित सिंहासन पर हमारे साथ विराजते थे और एक समय आज है जब कि आप ककरीली धरती पर मुझे भी दुःख दे रहे हैं। आपकी अर्द्धाङ्गिनी होकर मैं आपके क्षत्रियपन तथा आपकी वीरता से कुछ भी लाभ नहीं उठा रही हूँ। आप ही के साथ आपके भाई अर्जुन हैं, जो बाण-विद्या में अद्वितीय होने के कारण सारे कौरवों को नाश कर देने में अकेले समर्थ हैं। महाबली भीम अपने गदायुद्ध से संसार को परास्त कर देने में अग्रसर हो सकते हैं। आपके दोनों छोटे भाइयों—नकुल और सहदेव—की भी यही दशा है, युद्धविद्या में ये लोग भी बड़े निपुण हैं। हे मुकुटधर राजन्! बल की आपके पास कुछ भी कमी नहीं है। केवल आपकी आज्ञा देने भर का विलम्ब है। आज्ञा पाते ही आपके शेष चारों भाई बहुत शीघ्र फिर राज्य प्राप्त कर सकते हैं। जङ्गल में आप लोगों के सहित मुझे इतना दुःख हो रहा है तो भी आपकी क्रोधाग्नि नहीं भभकती। आप बराबर दुःख सह रहे हैं परन्तु मौन साधे हुए हैं। हम लोगों के प्रति आपके इस प्रकार के व्यवहार का क्या कारण है। द्रौपदी की इस प्रकार की दुःखभरी बातें सुन कर युधिष्ठिर का गला रुँध गया।

परन्तु ये पक्के धार्मिक तथा बड़े ही क्षमाशील थे। वास्तव में शक्ति रहने पर और दुख सहने पर भी जो क्षमा का प्रयोग करना नहीं भूलते वे ही आदर्श पुरुष हैं। तब द्रौपदी के प्रति युधिष्ठिर कहते हैं कि हे प्रिये! सांसारिक सुख तुच्छ है, धर्म ही मुख्य है। अधर्म से राज्य प्राप्त करने का हमारा विचार स्वप्न में भी नहीं है। सुनो, क्रोध करने का समय नहीं, क्षमा अपूर्व गुण है। इसी क्षमा के सम्बन्ध में कश्यप ऋषि का वचन है कि क्षमा ही तप है, क्षमा ही धन है, क्षमा ही सत्य है, क्षमा ही राज्य है, क्षमा ही सुख है, क्षमा ही दम है, क्षमा ही मुख्य धर्म है, क्षमा ही मुख्य कर्म है, क्षमा ही सब कुछ है, जिसमें क्षमा नहीं वह मनुष्य नहीं, क्षमा ही सुभूषण है। इसका निश्चय ग्रहण करना चाहिये। अहा!! क्षमा जैसे गुण को कश्यपजी ने कैसा उत्तम ठहराया है। इसीसे क्षमा को प्रतिष्ठा का स्थान देते हुए आचार्य्य मनु बतलाते हैं कि धर्म का तीसरा लक्षण

दम

है। जिसका अर्थ दमन करना है। मन सहित इन्द्रियों को आत्मा के वश में करना दम है। दम भी तप में सम्मिलित है। आत्मा चेतन पदार्थ है। शरीर का सब कार्य आत्मा ही करता है। आत्मा ही सर्वोपरि है। मन के द्वारा सोचना आत्मा का ही काम है। आत्मा ही अन्यान्य इन्द्रियों के द्वारा सब कार्य्य करता है। यदि इन्द्रियाँ स्वतन्त्र हो जायँ, मन अधीन न रखा जाय तो मनुष्य की बड़ी दुर्गति होती है। यथार्थ ज्ञान मनुष्यों को दम से ही प्राप्त होता है। महर्षि मनु कहते हैं कि धर्म का छठा लक्षण

है। जिसका अर्थ इन्द्रियप्रतिरोध अथवा इन्द्रियों को अधीन करना है। सारी इन्द्रियों को मन के अधीन करना, इन्द्रियनिग्रह और मन सहित सब इन्द्रियों को आत्मा के वश में करना दम है। दम और इन्द्रियनिग्रह में बहुत थोड़े का अन्तर है, इसीलिये प्रायः दम और इन्द्रिय-निग्रह का एक ही अर्थ किया जाता है और इन दोनों का यहाँ एक ही साथ वर्णन भी किया जाता है। आत्मा और मन ये क्या चीज़ हैं, बड़े बड़े ज्ञानी भी इसके हल करने में असमर्थ हो जाते हैं। इन्द्रिय-निग्रह का सुगम तथा इसका ठीक ठीक पर्यायवाचक शब्द ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य से दम का दर्जा कहीं ऊँचा है। ब्रह्मचर्य से ही दम अथवा तप ऐसा कठिन साधन भी सुलभ हो जाता है। दम और ब्रह्मचर्य परस्पर सम्बन्धी हैं। मूल ब्रह्मचर्य को ही समझना चाहिये। अतएव ब्रह्मचर्य के ही सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें लिखी जाती हैं।

शान्त चित्त अथवा चित्त की एकाग्रता से संसार के बहुत बड़े बड़े कार्य सिद्ध होते हैं। चित्त की एकाग्रता से ही ऋषियों ने अनेक शास्त्रों की रचना कर डाली है। इसी से मनुष्यों की यथेष्ट उन्नति तथा सारे कार्य सफल होते हैं। बेमन का किया गया एक काम भी उत्तम नहीं होता। चित्त की चंचलता से ही प्रमाद या असावधानी होती है जो उन्नति के मार्ग में बाधक स्वरूप है। अतएव मनुष्य को सर्वदा चित्त एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिये, जिसको ही योग कहते हैं। इसी चित्त-एकाग्रता से मनुष्य प्रकृति की तथा अन्यान्य विषयों की गूढ़ से भी गूढ़ बातों के रहस्य को इस प्रकार प्रकट कर देते हैं जिस प्रकार गोताखोर समुद्र में डूब

कर मोती बाहर निकाल लाते हैं। इन्द्रियनिग्रह सेही मनुष्य चित्त एकाग्र कर समाधिस्थ हो सकते हैं, अतः ब्रह्मचर्य ही उत्तम साधनों का मूल है। बिना इसके एक भी उत्तम साधन नहीं पूर्ण हो सकता। बुद्धि, विद्या, बल, रूप, गुण आदि ब्रह्मचर्य के ही सेवन से प्राप्त होते हैं जो आत्मोन्नति के मूल हैं। इन्द्रियप्रतिरोध का अर्थ यह है कि इन्द्रियाँ जिस कार्य के लिये दी गई हैं उनका उचित प्रयोग होना चाहिये। कान सुनने के लिये दिया गया है इससे परनिन्दा आदि मत सुनो। आँखें देखने के लिये दी गई हैं इनका सदुपयोग करो। इनसे कोई ऐसी चीज़ मत देखो जिससे अधर्म और बुरे विचारों की उत्पत्ति हो। सारांश यह कि उनका सदुपयोग होना चाहिये, उन्हें अधीन रखने से ही ऐसा हो भी सकता है। घोड़े पर चढ़ा हुआ सवार यदि स्वयं घोड़े को अधीन किये हुए है तो वह अपनी इच्छानुसार जिधर चाहेगा ले जा सकता है। परन्तु यदि सवार हो घोड़े के अधीन है तो घोड़ा मनमानी करेगा। घोड़े को किसी प्रकार का ज्ञान नहीं, भले बुरे का विचार नहीं, जिधर चाहेगा बुरे स्थान में ले जायगा, परिणाम उत्तम नहीं होगा, अन्त में सम्भव है गड़हे में गिरा डाले। इन्द्रियाँ घोड़े के सदृश हैं, जिन पर, मन सवार सदृश सवार है। यदि इन्द्रियाँ मन के अधीन नहीं तो मनुष्य को विषयों में फँसा कर बड़ी ही दुर्गति करेंगी परन्तु यदि ये मन के अधीन हैं तो सच्चे सुख की प्राप्ति होगी। इनके सम्बन्ध में उपनिषदों का कथन है.—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

भावार्थ यह कि शरीर रथ के तुल्य और उसमें आत्मा रथी तथा बुद्धि सारथी के सदृश है और इस रथ को खींचने के लिये इन्द्रियाँ घोड़ों के समान हैं। इस अवस्था में यदि ये स्वतंत्र रहीं तो रथी आत्मा को दुष्कर्म की ओर खींच अन्त में गड़हे में गिरा डालेंगी और यदि ये आत्मा के ही वश में रहीं तो सुमार्ग पर चलकर मोक्षरूपी अभीष्ट स्थान पर पहुँच समुत्तम फल की प्राप्ति कराती हैं। अतएव इन्हें अधीन रखने से उत्तम फल की प्राप्ति सम्भव है अन्यथा नहीं। अगर इन्द्रियाँ अधीन रहीं तो मन अधर्म की ओर से खिंचकर धर्माचरण में रत हो जायगा। अतएव मिथ्या सांसारिक सुखों और भोगविलासों से पृथक् रहना ही और इन्द्रियों को अधीन रखना ही ब्रह्मचर्य्य का लक्षण है। इसी के प्रताप से बड़े बड़े विकट कार्य्य भी सुलभ हो जाते हैं। बुद्धि विद्या, बल, रूप, गुण इनमें से प्रत्येक ब्रह्मचर्य्य के पालन से ही अनायास प्राप्त हो सकते हैं जिनसे मनुष्य शुभगुणसम्पन्न और विशेष कान्ति को प्राप्त होते हैं। हमारे पूर्वजों ने मानुषिक जीवन को चार भागों में विभक्त किया है। उन्हें आश्रम भी कहते हैं, जिन में पहला यह ब्रह्मचर्य्य ही है, इसके पश्चात् गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास का नम्बर आता है। अन्तिम अवस्था में मनुष्य संसार से विरक्त हो ईश्वर-प्राप्ति के निमित्त समाधिस्थ होते थे। गृहस्थाश्रम में सांसारिक कारोबार और वानप्रस्थ में परोपकार जैसा शुभकार्य्य करते थे। ब्रह्मचर्य्यावस्था विद्याध्ययन के लिये उपयुक्त थी। ब्रह्मचर्य्य और विद्या में परस्पर अद्भुत सम्बन्ध है। बिना ब्रह्मचर्य्य के विद्या की प्राप्ति कदापि

नहीं हो सकती। भोगविलास और विद्याभ्यास ये परस्पर विरोधी हैं। एक के आश्रय से दूसरे की अवश्य हानि होती है, एक की विद्यमानता में दूसरे की उपस्थिति देख नहीं पड़ सकती। विद्याभ्यास परिश्रम और अभ्यास से साध्य है, भोगविलास से नहीं। सांसारिक सुखों को तुच्छ समझते हुए ब्रह्मचर्य्य व्रत के पालन करने वाले ही सच्ची विद्या की प्राप्ति से यथोचित लाभ उठाते हैं। जानना चाहिये कि इस व्रत का पालन किस प्रकार किया जा सकता है। ऊपर कहा गया है कि इन्द्रियों का प्रतिरोध (रोकना) ही ब्रह्मचर्य्य है। इस सम्बन्ध में सबसे प्रधान वीर्य्य है, जिससे ही मनुष्य उत्पन्न करने में समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य्य का सबसे प्रधान और मुख्य अंग वीर्य्य-रक्षा ही है, इसी से पूरी शक्ति प्राप्त होती है। शारीरिक बल की उन्नति इसी रक्षा पर ध्यान देने से होती है। यह वीर्य्य भोजन किये हुए पदार्थ के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अंश का अंश है। बिना इसकी रक्षा किये अद्भुत कान्ति और शारीरिक बल हो नहीं सकता जिससे मानसिक बल प्राप्त करना भी असम्भव है। कम से कम २५ वर्ष तक वीर्य्यरक्षा करनी चाहिये। वीर्य्य को व्यर्थ नष्ट करना अपने जीवन को नष्ट करना है। इसी की रक्षा से ही मनुष्य अपनी यथार्थ रक्षा कर सकता है। हम इसकी कहाँ तक रक्षा करते हैं? किसकी? ब्रह्मचर्य्य की। हाय! इसकी दशा तो बहुत बुरी है। भारत का रुधिर यों ही नष्ट हुआ जा रहा है। वीर्य्य का सदुपयोग हम नहीं जानते। आचरणशीलता तथा सदाचार से दूर रहने के कारण ही हमारी दुर्दशा हुई जा रही है। हम नहीं जानते कि वीर्य्यरक्षा की क्या परिभाषा तथा इस से क्या लाभ हैं। शिक्षित से लेकर अशिक्षितों तक की एक

सी दशा देखी जा रही है। हम अपने पूर्वजों के जीवन को भूल गये हैं। हम नहीं जानते कि हनुमान, अंगद, भरत और लक्ष्मण आदि वीरों का बालकाल किस प्रकार व्यतीत हुआ था। अगर जानते भी हैं तो अपनी जड़ता, स्वार्थपरता और धर्म के अभाव में हम उससे कुछ लाभ नहीं उठा रहे हैं। महाबली भीम, अर्जुन और उनके पितामह भीष्म के जीवनचरित्र से हम शिक्षा नहीं ले रहे हैं। हमारी अवनति का यही मुख्य कारण है।

हमारा देश बड़ा गौरवशाली था, शक्तियों से परिपूर्ण था, वीरपुत्रप्रसविनी मातायें इसी देश में अधिक थीं। इस की वीरता सारे संसार को ज्ञात है। हम पूर्व में बड़े पराक्रमी सभ्य और ऐश्वर्यशाली थे। राम, रघु, अज, कुश आदि ऐसे ऐसे वीरों की जननी जन्मभूमि यह भारत ही है। पूर्व में उन्नतियों का भी हम अन्त कर चुके थे। संसार के भूषण और शिक्षा-गुरु हमी थे। कौन सद्‌गुण हम में नहीं विराजमान था। परन्तु आज? हाय! हमारी अवस्था नितान्त विरुद्ध हो गई है। उपर्युक्त एक भी गुण से हम युक्त नहीं हैं। यह क्यों? केवल ब्रह्मचर्य्य के बिना। इसी उत्तम साधन से रहित हो हम विषयों तथा दुर्गुणों को प्रिय मान विद्या से सैकड़ों कोस भाग गये हैं। तब आप ही बताइये, बिना विद्या बुद्धि के अब हमारा अभ्युदय किस प्रकार हो सकता है। कहना पड़ता है कि बिना ब्रह्मचर्य्य के सुधार हुए अब हमारा तथा देश का सुधार होना असम्भव है। बालकाल के विवाह की प्रथा हमारे देश को और भी चौपट कर रही है। माता पिता को उचित है कि वे अपने पुत्र का बाल्यावस्था में विवाह कदापि न किया करें। और सदा उन्हें कम से कम २५ वर्ष

तक ब्रह्मचर्य्य व्रत पालन का उपदेश दिया करें। संसार में वही देश उन्नति कर सकता है जो इस अनुपम साधन के रहस्य को जानते हुए इसे सर्वोपरि समझे। जगत में जितनी अभ्युदित शक्तियाँ हैं सबने ब्रह्मचर्य्य को ऊँचा आसन दिया, इस शुभगुण की उन्होंने यथोचित पहिचान और प्रतिष्ठा की है। इसके नियमों के अनुकूल चलना उन्होंने प्रारम्भ किया है। बालकाल के विवाह को वे महातुच्छ समझते हैं। वीर्य्य को ही वे अपनी सच्ची शक्ति और श्री समझते हैं। देखिये वीर्य्यरक्षा के विषय में चरकसंहिता में क्या लिखा है।

आहारस्य परंधाम वीर्य्यं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षयो यस्य बहून्रोगान्मरणं च नियच्छति॥

भावार्थ यह कि संसार में इस लोक और परलोक का सुख चाहने वाले बुद्धिमान पुरुषों को उत्तम प्रभावभूत अपने वीर्य्य की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिये क्योंकि इसके व्यथ नष्ट होने से अनेक रोग पैदा होते हैं और अन्त में मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है।

शरीररक्षा कितना प्रधान है सो लिखने की आवश्यकता नहीं। यह भी विना वीर्य्य-रक्षा के सुरक्षित नहीं रह सकती। अतएव स्वास्थ्य का भी मूल इसी को समझना चाहिये। इस ब्रह्मचर्य के अभाव से कैसी कैसी दुर्गति उठानी पड़ती है इस के सम्बन्ध में कुछ लिखा जाता है।

सबसे प्रथम स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, मनुष्य अल्पायु, हीनवीर्य, रोगग्रस्त, दुर्बल और बुद्धिविहीन हो जाता है। ब्रह्मचर्य का सबसे बड़ा प्रभाव होनेवाली सन्तानों के ऊपर पड़ता है। यदि पूर्ण पालन इस व्रत का नहीं किया गया हो तो सन्तान उपर्युक्त दुर्गुणों सहित हो जाती है। जिससे

सब प्रकार की भलाई की आशा की जड़ कट गई समझिये। ठीक यही दशा भारत की है, ब्रह्मचर्य के अभाव से देश गढ़हे में गिरा जा रहा है। इसके प्रतिकूल ब्रह्मचर्य व्रत पालन से बड़ा ही लाभ संभव होता है। भावी सन्तान पूरे पूरे अङ्ग वाली, नीरोग, पुष्ट, बलवान, बुद्धिमान, पराक्रमी, विद्या-व्यसनी, भाग्यशाली और बड़ी आयु वाली होती है। इस व्रत के पालने वाले अपनी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों को पूर्ण प्रौढ़ कर इनसे यथोचित लाभ उठाते हैं। यदि निश्चित समय तक इसका पालन हुआ तो बल पौरुष की उन्नति प्राप्त कर शारीरिक तथा मानसिक बल संयुक्त हो एवम् सांसारिक कामों में उत्साह पा आत्मा बड़ा ही आनन्द अनुभव करता है। ब्रह्मचर्य पालन के प्रभाव से ही आज भीष्म, हनुमान तथा अङ्गदादि वीरों का सबसे प्रथम नाम लिया जाता है। भीष्म और हनुमान ने तो आजीवन इसका पालन किया है। उन्होंने मनुष्यों की बुद्धि से परे जो जो असाधारण कार्य कर दिखाये हैं महाभारत और रामायण के अध्ययन से सारी बातें प्रकट हो जाती हैं। यह सब ब्रह्मचर्य का ही प्रभाव था। सौ योजन चौड़े समुद्र को तैर कर लङ्का में अगणित वीरों के मध्य में भी रावण जैसे शक्तिशाली और महाबलवान राक्षस को नीचा दिखा जिस प्रकार का प्रशंसनीय कार्य हनुमान ने रामचन्द्रजी की आज्ञा के पालनार्थ कर दिखाया था और महा-भारत के युद्ध में कौरवों की रक्षा के लिए महाराज युधिष्ठिर की अगणित सेनाओं का संहार कर उनके वीर और प्रतापी भाइयों का हृदय महाबली भीष्म पितामह ने कँपा दिया था और स्वयम् भी महाबली अर्जुन के बाणों की शय्या का जिन्होंने कुछ दिनों तक सेवन किया था। इन सब अद्भुत

पराक्रमों का प्रधान मूल ब्रह्मचर्य ही था। इसकी कहाँ तक प्रशंसा की जाय, सारे ऐश्वर्य और धर्म इसी की उपासना से उपलब्ध हो सकते हैं। ब्रह्मचर्य की बहुत स्तुति हो चुकी, इसकी प्रार्थना (आवश्यकता) की हमें बड़ी आवश्यकता है। इसके बिना धर्माचरण और सदाचार से हम बहुत दूर हैं। ब्रह्मचर्य से जितने लाभ तथा जितनी भलाइयाँ और यश सम्पत्ति मनुष्य एकत्र करता है इसके विरुद्ध व्यभिचार से इससे कहीं अधिक अपयश का भागी बनता है। संसार में सबसे नीच और जघन्य कार्य व्यभिचार ही है। स्वप्न में भी इसका नाम तक न लेना चाहिए। सदा ब्रह्मचर्य की चिन्ता करना अपना जीवन सम्मुत्तम बनाना है। एक से एक इस व्रत के पालने वाले हमारे यहाँ हो चुके हैं। जिस समय सती साध्वी सीता की खोज के लिए महाबली हनुमान लङ्का गये थे, जानकी को खोज करते करते वे रावण के राजसी महलों में भी चले गये। उन महलों में ब्रह्मचारी हनुमान ने कई युवती बालाओं को नग्नावस्था में अचानक देख लिया। तब हनुमान शोकपूर्ण शब्दों में कहते हैं कि हे विधाता, हे प्रभु, हे भगवन्, बहुत दिनों की हमारी सम्पत्ति, बहुत दिनों का सेया हुआ हमारा ब्रह्मचर्य आज विनष्ट हो गया। अचानक हमसे बड़ा भारी अधर्म हो गया। कुछ विचार करने पर हनुमान पुनः अपने हृदय को सन्तुष्ट करते हैं, मन ही मन कहते हैं कि नहीं नहीं, हमारा व्रत नष्ट नहीं हुआ। हमारी नीयत, हमारे विचार, हमारे मन में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न हुआ, हम निर्दोष हैं। देखिए! ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा तथा इसके पालन का हनुमान के हृदय में कितना ध्यान था। सच है, इसीसे उन्होंने अद्भुत अद्भुत कर्म दिखाये भी हैं। अपने

प्राचीन ग्रन्थों पर दृष्टि ले जाकर यदि इसके उदाहरण ढूँढ़े जायँ तो अनेक मिल सकते हैं।

लक्ष्मण जी कैसे ब्रह्मचारी थे कि जिन्होंने अपने साथ रहते हुए भी माता जानकी का चरण छोड़ अन्य एक भी अङ्ग तक नहीं देखा था। यही कारण है कि पैरों के नूपुरों को छोड़ कर माता जानकी के वे गहने जो सुग्रीव से श्रीरामचन्द्र जी को प्राप्त हुए थे उनके पूछने पर लक्ष्मण से पहचाने भी नहीं गये। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि हे भगवन्! माता जानकी के नूपुरों को छोड़ हम इनमें से एक भी नहीं पहचान सकते क्योंकि मैंने इनको कभी देखा नहीं था. आज आपके हाथ में देख रहा हूँ। धन्य हैं वे लक्ष्मण जिन्होंने इस व्रत की इतनी प्रतिष्ठा की थी। यही कारण है कि उन्होंने मेघनाद जैसे बली को भी, जिसने इन्द्र को नीचा दिखाया था, रणक्षेत्र में अकेले स्वर्ग का रास्ता दिखाया था। सारांश यह कि ब्रह्मचर्य के पालन से क्या नहीं हो सकता? अप्राप्य वस्तुएँ भी सुलभ और सरल हो जाती हैं। अतएव बालको! इस उत्तम साधन ब्रह्मचर्य्य का पालन करो। यदि अद्भुत शक्ति, पराक्रम, आत्मोन्नति और कान्ति चाहते हो तो वीर्य्य-रक्षा करो, इसे व्यर्थ नष्ट मत करो। यही सुखों का मूल है। ठीक ठीक उपर्युक्त ब्रह्मचर्य्य के नियमों का पालन करते हुए भोगविलास और सुख की इच्छा से पृथक् रहते हुए विद्याभ्यास करो। समय पा सभी वस्तुएँ प्राप्त हो जायँगी। अपनी इन्द्रियों का दमन करो, मन के विचारों को पवित्र करो, सदाचार के इन नियमों पर ध्यान दो, मन को अधीन रखो, व्यर्थ विषयों की चिन्ता मत करो, सच्चे जितेन्द्रिय बनो, शारीरिक इन्द्रियों का सदुपयोग करो। इन्हें अलग

अलग प्रसन्न रखने की चिन्ता तथा चेष्टा का नाश करो। आत्मा के अनुकूल यदि इन्द्रियों की आज्ञा हो और जो प्रिय जान पड़े उन्हें शीघ्र करो। आत्मा के विरुद्ध उनकी आज्ञाओं का पालन न करो। यथासाध्य उन पर पूर्ण रीति से शासन करो। इनके सुखों को तुच्छ समझो। यदि ये अधीन रहीं तब तो इन्हें मित्र और यदि स्वतंत्र रहीं तो इन्हें अपना भारी बैरी समझो। वीर्य्यरक्षा द्वारा शारीरिक शक्ति को बढ़ाते रहो। बालको! स्मरण रखो, देखो देश की उन्नति का भार एक दिन तुम्हारे ही ऊपर पड़ेगा; तुम्हारी ही उन्नति से उन्नति तथा अवनति से भावी अवनति है। अपने को ऐसा बनाओ कि समय पड़ने पर भारों को सह सको, उन्हें भली भाँति सम्पादन करो। इस लेख में मैं यही अन्तिम शिक्षा देकर इसे समाप्त करता हूँ कि "जितना शीघ्र होसके ब्रह्मचर्य्य व्रतपालन की प्रतिज्ञा में तत्पर हो, धर्म्माचरण में रत हो, सदाचार को पहचान करो, इन्द्रियों को स्वतंत्र मत होने दो"। इस ब्रह्मचर्य के पश्चात् महर्षि मनु बतलाते हैं कि धर्म का चौथा लक्षण

अस्तेय

है, जिसका अर्थ चोरी न करना है। किसी भी वस्तु को उसके मालिक से बिना पूछे और बिना उसकी आज्ञा के उसकी आँख बचाकर अपहरण कर लेना चोरी करना कहलाता है। चोरी न करना बड़ा भारी धर्म और करना बड़ा भारी पाप है। सारे अधर्म्मों और पापों की जड़ चोरी ही है। चोरी करने का विचार मन और आत्मा को बड़ा ही कलुषित कर डालता है। चोर शारीरिक शक्ति और बल में कितना ही उन्नत क्यों न हो उसका आत्मा बड़ा दुर्बल रहता है। उसके

विचार बड़े ही नीच होते हैं। कई प्रकार से चोरी की जाती है। यह अधर्म एवम् दुष्कर्म कर्त्ता को भी प्रिय नहीं, इसका अन्तिम परिणाम बड़ा ही बुरा होता है। यह मनुष्यों को नाना प्रकार का कष्ट सहन कराता है, उनके स्वच्छ जीवन में भी दाग़ लगा देने वाला है। हमारी समझ में इससे नीच कर्म अब दूसरा कोई नहीं है। जनसमाज के बीच में चोरी करने वाले को जो जो दुर्गति और अपमान होते हैं उसका पूर्ण अनुभव वही करता होगा। चोरी के द्वारा जिस वस्तु अथवा द्रव्य को मनुष्य प्राप्त करते हैं वह अधिक दिन तक ठहर भी नहीं सकता। बालू की दीवार के सदृश उसे विनष्ट होने में विलम्ब नहीं लगता। परन्तु जो द्रव्य मनुष्य सत्य और श्रम के आश्रय से प्राप्त करते हैं उसकी निरन्तर वृद्धि ही होती रहती है। अकारण उसका नाश नहीं होता। जब कोई मनुष्य किसी की वस्तु को इस नीयत से उठा रहा हो कि इसके अधिकारी की आँख बचा कर इसे अपने लिये ले लूँ तो उसी समय उसका आत्मा भयभीत हो जाता है। चोर के ऊपर तनिक भी सन्देह करके भूली वस्तु के सम्बन्ध में बात चीत की जाय तो तत्काल उसका चेहरा मलिन हो जायगा। छाती धड़कने लगेगी, वह दोषी सा जान पड़ेगा। इसके अतिरिक्त वह तुरन्त घबरा उठेगा। दुष्कर्म एवम् चोरी आदि से ही मनुष्य विशेष अधीर हो जाते हैं और उस दोषसे मुक्त होने के लिये तरह तरह की झूठी बातें कहने लगते हैं। ऐसे समय में दुष्कर्म के कर्त्ता उस चोर को जो मानसिक कष्ट होता होगा वही जानता होगा। निश्चय जानिये, चोरी से प्राप्त किये हुए धन से मनुष्य किसी प्रकार का लाभ नहीं उठा सकता। पर हानि तो उसे अवश्य उठानी पड़ती है। सबसे प्रथम वह

अपने लोक परलोक दोनों को बिगाड़ता है। जगत्पिता परमात्मा को अप्रसन्न और असन्तुष्ट कर देता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है ठीक वैसा ही फल भी उसे प्राप्त होता है। दुष्कर्म का करने वाला निश्चय दोनों लोकों में असह्य और कठोर दण्ड का भागी होता है। सर्वशक्तिमान सर्वान्तर्यामी परमात्मा को सर्वत्र विद्यमान जानते हुए भी जो दुष्कर्म करता है उसके ऐसा पतित और अधम दूसरा नहीं।

परमात्मा माली के सदृश है जिसकी रची हुई सृष्टि फुलवारी और जिसमें निवास करनेवाले प्राणी फूल के सदृश हैं। जिस प्रकार माली अनुकूल जल वायु द्वारा फूलों को सुरक्षित और बाधक जन्तुओं से फूलों की रक्षा करता है ठीक उसी प्रकार परमेश्वर अपने रचे हुए प्राणियों का, दयादृष्टि द्वारा और प्रकृति में अनेकों प्रकार की सुविधायें देकर, पालन करता है। यदि कोई हिंसक जन्तु फूलों को किसी प्रकार का विघ्न पहुँचावे तो उसका रक्षक माली असन्तुष्ट और रंज होकर जिस प्रकार विघ्न पहुँचाने वाले को विघ्न पहुँचाता है ठीक उसी प्रकार परमात्मा अपने रचे हुए प्राणियों को, अकारण सताने वाले को, दण्ड देता है। प्राणियों को दुःख देने में चोरों का नम्बर बड़ा ऊँचा है। चोरी करते समय वे दूसरों के प्राण तक ले लेने में संकोच नहीं करते। कितने चोर तो रक्षक को जान से मार कर ही निःशंक हो धनापहरण करते हैं। कहिये! माली रूप परमेश्वर को इन दुष्टों के कर्त्तव्य से कितना दुःख जान पड़ता होगा। हाय! ईश्वर के दण्ड और जीवन का कुछ भी विचार न कर चोर चोरी करना नहीं छोडते, यह कितने दुःख की बात है। सभी प्राणियों से प्रेमपूर्वक सत्य व्यवहार करना चाहिये। कुकर्म, अत्याचार

और अन्याय से किसी को भी दुःख देना उचित नहीं, नहीं तो अवसर पा स्वयं भी उसके बदले दुख उठाना पड़ेगा।

चोरी करने का मुख्य कारण प्रायः लालच है। दूसरे की किसी वस्तु को देखकर बिना उद्योग और परिश्रम द्वारा उसे लेने की इच्छा अथवा "उसकी या वही वस्तु मुझे भी बिना परिश्रम मिल जाय" इसी प्रकार का विचार उत्पन्न होना लालच है। लालच और संतोष ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। सन्तोषी पुरुषों के निकट लालच और लालचियों के निकट सन्तोष का प्रवेश तक नहीं होने पाता। यही कारण है कि लालची पुरुषों को कभी सुख नहीं प्राप्त होता। वे सदा दूसरों की वस्तु लेने का ही विचार किया करते हैं। मनुष्य यदि अपने हृदय से लालच का बहिष्कार कर दें तो चोरी करने की आवश्यकता ही न पड़े। चोरी की जड़ लालच ही है अतएव इस जड़ लालच का ही विनाश कर देना परमोचित है। संसार में दरिद्र और दुःखी वही है जिसकी तृष्णा कभी शान्त नहीं होती, बहुत बड़ी सम्पत्ति और राज्य पाने पर भी जिसको सन्तोष नहीं हुआ, लालच और तृष्णा की आग धधकती ही गई, उसी को महादीन और दरिद्र समझना चाहिए। सन्तोषवृत्ति धारण करने वाले पुरुषों के सुख के सदृश सुख उसे स्वप्नवत् है। सच्चा धनी सन्तोषी ही है। अतएव सदा सन्तोष का ग्रहण और लालच का परित्याग करना चाहिये। लालच के परित्याग सेही चोरी की जड़ कट सकती है।

प्रायः ऐसा भी देखा गया है कि कितने पुरुष नाम और यश के लिये भी चोरी करते हैं। चोरी कई प्रकार से की जाती है। जितने झूठे कर्त्तव्य हैं। जिनको मनुष्य दूसरों से

छिपाना चाहते हैं जिनके प्रकट हो जाने से उनका अपयश फैल जा सकता है अथवा जिनको हम सर्वसाधारण के बीच उपस्थित नहीं कर सकते, उनको एक प्रकार से चोरी ही कहते हैं। कितने बालक भी परीक्षा में अधिक नम्बर लाने और उत्तीर्ण होने की इच्छा से नक़ल करते हैं, जिसको भी चोरी ही करना कहते हैं। बालकों को उचित है कि वे अपने बाहुबल पर परीक्षा में सम्मिलित हों। चोरी करने का विचार न रक्खें। यदि वर्ष पर्यन्त बालक जी लगा कर परिश्रमपूर्वक विद्याध्ययन करें तो उन्हें भी चोरी करने की आवश्यकता न रहे। पूर्ण योग्यता न होने पर नक़ल करके उत्तीर्ण हुए छात्र लाभ नहीं उठाते। पूरी योग्यता न रहने के कारण वे निरादृत और पददलित होते रहते हैं। सदा अपने कार्य में भूलें करते रहते हैं, जिससे उनको बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। यदि वे चोरी न करके परिश्रमपूर्वक पूरी योग्यता प्राप्त कर परीक्षोत्तीर्ण होते तो उन्हें बड़ा आनन्द प्राप्त होता। चोरी से लाभ हुआ कहीं भी हम नहीं देखते। परिश्रम, धैर्य, सन्तोष और सत्य इनको कदापि नहीं भूलना चाहिये। परिश्रम करने के डर से ही कितने पुरुष अपने कार्य में त्रुटि रख समय पर यथोचित उत्तर न देकर वचनों की चोरी करते अर्थात् झूठ बोलते हैं। परिश्रम के भय से ही कितने अपना कार्य अधूरा रख छोड़ते और उत्तर देने के समय अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये अनेक झूठे प्रयत्न करते हैं। सारांश यह कि मनुष्य अपना कार्य यदि श्रमपूर्वक करें और अपने ही कार्य से यथोचित लाभ उठावें जिससे दूसरों का मुँह न देखना पड़े, तो चोरी करने की आवश्यकता हो जाती रहे। कितने बिपद्ग्रस्त पुरुष थोड़े से

अपना निर्वाह न कर दुःख सहने के कारण चोरी के अति-रिक्त अपनी दूसरी जीविका ही नहीं समझते। यदि धैर्य धारण कर श्रमपूर्वक कोई अन्य कार्य करें, जो धर्मसम्मत हों तो उसमें अवश्य उन्हें लाभ होगा। परिश्रम के अवलम्ब से दुःख का समय सुख से पलट जायगा। सन्तोष के विषय में मैंने ऊपर थोड़ी सी चर्चा की है। सत्य का भी, जिसका वर्णन एक स्वतन्त्र लेख में किया जायगा, सर्वदा व्यवहार करना चाहिये। अभिप्राय यह कि प्रत्येक कार्य को परिश्रम, धैर्य, सन्तोष और सत्यपूर्वक करना चाहिये। मनुष्य यदि इनका पालन उचित रीति पर करे तो उसे चोरी जैसा अधर्म न करना पड़ेगा। प्रत्येक मनुष्य को इस पर ध्यान देना चाहिये। इस सर्वमान्य सिद्धान्त को कभी न भूलना चाहिये कि "उद्योग और परिश्रम द्वारा सब धनों की प्राप्ति होती है"। चोरी के द्वारा धन प्राप्त करने का तुच्छ एवम् नीच विचार, जो अन्धा बना कर गड्हे में गिरानेवाला है, सब प्रकार के अधर्म कर डालने में जिससे तनिक भी संकोच और भय नहीं होता और जो सारे दुःखों का मूल है, जिस विचार से ही मनुष्य कठिन से भी कठिन अधर्म में प्रवृत्त हो जाता है, भावी भलाई जिससे तनिक भी नहीं सूझती, जो हृदय के नेत्रों पर पर्दा डाल देनेवाला है और जिससे जीवन का उत्तम साधन विनष्ट हो जाता है, जितना शीघ्र हो सके घृणित समझ कर परित्याग कर देना ही सर्वोत्तम है। देश की दशा और भारत में इस दुष्कर्म का इतना अधिक प्रचार देख कर और प्रति दिन अनेक डाके पड़ने का समाचार श्रवण कर हमारा हृदय काँप उठता है। देश जानता है कि यह दुष्कर्म है पर तो भी इससे दूर नहीं। जिस अधर्म से

ऋषि दूर रहने का उपदेश देते हैं जिसका न करना उन्होंने धर्म के लक्षणों में गिनाया है उसी ऋषि की सन्तान होकर हम उससे दूर कहाँ तक रहेंगे अपना प्रिय कर्त्तव्य मान बैठे हैं। हम उनके दिये उपदेश से लाभ नहीं उठा रहे हैं। समय ठीक उलटा हो गया है। यह हमारा वही भारत है जिसमें बहुत कम दिन हुए घरों में ताले लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। सत्य बर्ताव और परस्पर प्रेम के आधिक्य से किसी भी व्यक्ति को चोरी जैसे जघन्य काय का स्वप्न में भी भय न था। अपनी वस्तुओं से सभी निर्भय और निःशङ्क हो कर मनमाना सुखपूर्वक जहाँ चाहते विचरते थे। पर आज भारत की वह अवस्था स्वप्न सी जान पड़ती है। तरह तरह के पेचीदे ताले दिन दिन बनाये जा रहे हैं, परन्तु चोरी और चोरों का अभाव नहीं देख पड़ता। दिन रात सरकार के पहरे सर्वत्र पड़ा करते हैं परन्तु तो भी रात को कौन कहे दिन दहाड़े डाके तक पड़ जाया करते हैं। सरकार कठिन से कठिन नियम बनाये जा रही है परन्तु तो भी इसका अभाव नहीं। भारत की यह अवस्था किस सहृदय के हृदय को नहीं बेध रही है? यह अवस्था किस महापुरुष को दुख नहीं पहुँचा रही है? पर क्या किया जाय। ऐसे समय में भगवन्! तुम्हीं हमारी और हमारे देश की रक्षा करो। इस जघन्य काय के अवगुणों को जानते हुए भी हम इससे दूर नहीं हो रह हैं। इसका मूल कारण हमारी जातीय दुर्बलता परस्पर ईर्ष्या-द्वेष, प्रेम और सत्य श्रमपूर्वक कार्यों का अभाव एवम् सन्तोष की न्यूनता ही है। हे परमात्मन्! तुम सर्व-शक्तिमान् हो, इस दुष्कर्म से हमें दूर करो। जानते हुए भी हम जड़ हो रहे हैं। हममें चेतनता प्रदान करने को कृपा करो।

हम में ऐसा उत्तम विचार दो जिससे चोरी को हम घृणित समझ ऐसी प्रतिज्ञा के पूर्ण करने में समर्थ हो सकें कि "आज से सदाचार के विरुद्ध एक भी अधर्म न कर सकेंगे"। दूसरों के शुभ गुणों तथा अन्यान्य उत्तम कर्मों की हम खूब अच्छी चोरी कर सकें, चोरी करने का ऐसा ही विचार हम में रहने दो। हम केवल इसी चोरी को उत्तम समझते हैं। अस्तेय के पश्चात् ऋषि बतलाते हैं कि धर्म का पाँचवाँ लक्षण

शौच

है। जिसका अर्थ पवित्रता है, जिसको शुद्धि भी कह सकते हैं। इसके आश्रय बिना मनुष्य सभ्य तथा शिक्षित रहने पर भी अनादृत होते रहते हैं। सभ्यता का यही मूल है। पवित्रता दो प्रकार की होती है। एक अन्तः और दूसरी बाह्य। इनके सम्बन्ध में ऋषि का कथन है कि

अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति, मनः सत्येन शुद्धयति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति॥

अर्थात् शरीर के ऊपरी भाग को जलसे शुद्ध करो जिसको बाह्य शुद्धि कहते हैं और मन को सत्य से, जीवात्मा को विद्या और तप से तथा बुद्धि को ज्ञान से शुद्ध करो, जिनको अन्तःशुद्धि कहते हैं।

इन सब शुद्धियों की क्या आवश्यकता है? इनसे क्या क्या लाभ तथा ये किस प्रकार शुद्ध किये जा सकते हैं? इन्हीं विषयों पर क्रमशः विचार किया जाता है। प्रथम बाह्य शुद्धि को ही लीजिये। शरीर यदि स्वच्छ न रखा जाय, प्रति दिन स्नानादि से यदि शरीर का मैल आदि न धो डाला जाय तो यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्य का स्वास्थ्य बिगड़ जायगा। शरीर

में अगणित रोम हैं जिन सबके तले बहुत छोटे छोटे छिद्र होते हैं हवा के आने जाने में वे छिद्र बहुत काम देते हैं। इन सबको सदा खुला रखना चाहिये जो बिना स्नान के नहीं हो सकता। शौच के आधार पर ही मनुष्य स्वस्थ रह सकता है अन्यथा नहीं। प्रातःकाल शय्या से उठकर ईशभजन के पश्चात् अपने नित्यकर्म में लग जाना आवश्यक है। मल-त्याग के पश्चात् शुद्ध जल और मिट्टी से अपना हाथ, पैर पवित्र कर लेना चाहिये। इसके पश्चात् दाँत और मुख को पवित्र कर उपर्युक्त कथनानुसार स्नान द्वारा सारे शरीर को पवित्र कर देना चाहिये। नित्य कर्म्मों से निवृत्त होने के पश्चात् अपने नैमित्तिक कार्य्य में लग जाना आवश्यक है। सदा स्वच्छ वस्त्रों का व्यवहार करना चाहिये, इससे स्वयं भी मनुष्य आनन्दित रहते हैं। नाखूनों की सफ़ाई पर भी ध्यान देना आवश्यक है। मनुष्य का पसीना कपड़े को दुर्गन्धित कर देता है। वस्त्र यदि देखने में स्वच्छ हो परन्तु उससे दुर्गन्ध आती हो तो उसका व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिये। जो पुरुष बहुत गन्दा रहता है, गन्दे वस्त्रों का व्यवहार करता है, सर्वसाधारण उसे घृणा करते हैं और उसका स्वयं चित्त भी प्रसन्न नहीं रहता, जिससे धर्माचरण और सदाचार से वह दूर जा गिरता है। अपना चित्त तभी प्रसन्न रहता है, कार्य करने में तभी जी लगता है, पुरुष सभ्य तभी कहे जा सकते हैं जब वे अपनी स्वच्छता पर ध्यान दें। बाह्य शुद्धि पर ध्यान देने से खुजली, दाद जैसे चर्म रोग भी कभी नहीं हो सकते। अतएव आनन्दप्राप्ति के लिये उचित है कि बाह्य शुद्धि पर ध्यान रखते हुए पुरुष अन्तःशुद्धि पर भी ध्यान दें। बाह्य शुद्धि से यदि सांसारिक जन प्रसन्न होते हैं तो

अन्तःशुद्धि से ईश्वर प्रसन्न रहता है। इन दोनों में अन्तःशुद्धि ही प्रधान है। वास्तव में पवित्र और सदाचारी वे ही पुरुष हैं जो बाहर भीतर दोनों ओर से स्वच्छ हैं, भीतर से जिनको किसी प्रकार का पेच आदि नहीं ज्ञात हो। जिन पुरुषों की नीयत अच्छी जान पड़ती है, मन कर्म वचन से जो सत्य का पालन करते हैं, पराये की निन्दा जो न करते हैं और न सुनते हैं, सत्यश्रम के द्वारा सत्य कार्य्यों के सम्पादन में जिनसे आलस नहीं होता, सबके साथ जो सच्ची सहानुभूति रखते हैं वे ही सच्चे पवित्र पुरुष हैं। बाह्य शुद्धि में तनिक भी त्रुटि न कर सारे शरीर में चन्दन लगा जो ईश्वर प्राप्ति के लिये ध्यानावस्थित हों परन्तु उनकी अन्तःशुद्धि उत्तम नहीं तो लाख प्रयत्न करने पर भी वे ईश्वर को प्रसन्न नहीं कर सकते। किसी कवि ने कहा है :—

प्रगट करै पूजा ईश्वर की पत्र फूल और तिनका।
पर न दिखाई दे उस नर को हृदय शुद्ध नहिं जिनका॥
उर को माँजै इस प्रकार से मैल रहै नहिं कणुका।
ऐसा यतन करै जब प्राणी दर्श मिले तब प्रभु का॥

जिन पुरुषों का हृदय स्वच्छ है और उपर्युक्त गुण जिनमें पाये जाते हैं सचमुच वे ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं। सच्चा तपस्वी, सत्यवक्ता, विद्यावान् और जितेन्द्रिय वही पुरुष है जिसने अपने विचारों को पवित्र किया हो। शरीर की बाह्य शुद्धि से अन्तः शुद्धि की पूर्त्ति नहीं हो सकती। ये दोनों भिन्न हैं। जिस प्रकार बक्स के भीतर वस्त्र रख कर उसके ऊपरी भाग पर साबुन लगा वस्त्र के स्वच्छ होने की आशा दुराशा मात्र है उसी प्रकार शरीरस्थ मन और आत्मा की शुद्धि के लिये बाह्य शुद्धि निरर्थक है। बाह्य शुद्धि केवल बाह्य

के लिये हितकर है अन्तः के लिये नहीं । भीतर की गन्दी हवाओं और मैल का एक दम बहिष्कार कर देना चाहिये। हृदय के निकट कुछ ऐसे स्थान हैं जहाँ की प्रविष्ट हुई गन्दी हवा शीघ्र नहीं निकलती । नाक के द्वारा बारम्बार के साँस लेने से वह स्थान शुद्ध हो सकता है।

ऋषि बतलाते हैं कि मन को सत्य से, आत्मा को विद्या और तप से तथा बुद्धि को ज्ञान से शुद्ध करना अन्तःशुद्धि है। अब इन पर टुक ध्यान देना चाहिये। वस्त्र को शुद्ध करने के लिये जिस प्रकार साबुन की आवश्यकता पड़ती है और जो उसके मैलादि का लोप कर देता है उसी प्रकार मन को शुद्ध करने के लिये सत्य रूपी साबुन की आवश्यकता है। अधर्म, कुविचार और दुष्कर्म की इच्छा मन के ही द्वारा होती है। मन यदि पवित्र और शुद्ध है तो मनुष्य अनाचार से अनायास बच सकता है। अतएव सदा सत्य के ग्रहण से मन को पवित्र करना उचित है। प्रकृति से लेकर ईश्वर पर्यन्त तक का यथार्थ ज्ञान विद्या के ही द्वारा होता है। सारासार का पता और भला बुरा पहिचानने का विचार विद्या से ही हो सकता है। आत्मा की चेतनता विद्या के प्रकाश से ही उन्नति करती है। आत्मा के नेत्र को विद्या के प्रकाश से ही तत्त्वों का अस्तित्व दिखलाई देता है। इसी से आत्मा पवित्र करने के लिये विद्या की आवश्यकता है। तप के द्वारा भी आत्मा शुद्ध होता है। कहा गया है कि सत्य बोलना, सत्य विद्याओं का सुनना, इन्द्रियदमन, शम, ईश्वरोपासनादि ये ही तप हैं।

लोभ सरिस अवगुण नहीं, तप नहिं सत्य समान।
तीरथ नहिं मन शुद्धि सम, विद्यासम धन आन॥

सत्य से भी आत्मा पवित्र होता है। जिन कामों के करने से मनुष्य दुःख से तर जाते हैं वे ही तीर्थ कहलाते हैं। मनशुद्धि के सदृश कोई तीर्थ भी नहीं। अतएव जाना गया कि मन और आत्मा की शुद्धि से मनुष्य दुःखसागर को पार कर सच्चा सुख प्राप्त करते हैं। ज्ञान द्वारा बुद्धि की शुद्धि की जाती है। सच्चे ज्ञान से बुद्धि निरन्तर उन्नति करती रहती है। ज्ञान द्वारा ही सच्ची विद्या प्राप्त होती है। ज्ञान और विद्या इनमें बड़ा सम्बन्ध है। प्रायः एक से दूसरे की उत्पत्ति है। उत्तम बुद्धि से ही मनुष्य उत्तम कार्य कर सकता है अतएव सदा बुद्धि को ज्ञान द्वारा पवित्र करते रहना चाहिए। इसी मन, आत्मा और ज्ञान की शुद्धि से मनुष्य पवित्र समझा जाता है। बाह्य शुद्धि बहुत सुगम परन्तु अन्तःशुद्धि बड़ी ही असाध्य तथा दुरूह है। जीवन के संग्राम में बिना परिश्रम किये समुत्तम बनना बड़ा कठिन है। जिस प्रकार बिना कठोर अग्नि का ताप दिये, बिना धधकती आग में तपाये सुवर्ण की यथार्थ शोभा दृष्टि नहीं होती उसी प्रकार बिना अन्तःशुद्धि के मनुष्य शोभाशाली नहीं बन सकते। चट्टानों के टेढ़ेमेढ़े और नुकीले टुकड़े जिस प्रकार बिना नदियों के गर्भधार में पड़े और बिना रगड़ खाये चिकने तथा सुन्दर नहीं होते उसी प्रकार बिना इन्द्रियों के दमन और मन तथा आत्मा के पवित्र किये मनुष्य सुघड़ जीवनवाले, पवित्र तथा सदाचारी नहीं बन सकते। अतएव इन विचारों को ध्यान में रखते हुए बाह्य और अन्तः दोनों शुद्धियों से मनुष्य को उचित है कि वे अपने को पवित्र बनावें। इस शौच के पश्चात् महर्षि मनु बतलाते हैं कि धर्म का छठा लक्षण इन्द्रियनिग्रह है जिसका वर्णन इसके साथ ऊपर किया जा चुका है। इन्द्रियनिग्रह के पश्चात् धर्म का सातवां लक्षण

धीः

अर्थात् बुद्धि की वृद्धि है। प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वे अपनी बुद्धि को विमल रक्खें, बुद्धि की उत्तमता से मनुष्य की अनेक भलाइयाँ होती हैं। किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने के लिये इन तीन बातों की बड़ी ही आवश्यकता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन। किसी की कही हुई बातों को प्रथम सुन लेना चाहिये इसी को श्रवण कहते हैं। और सुन लेने के पश्चात् उस पर विचार करना उचित है, कि यह बात कहाँ तक ठीक है, बुद्धि से उसको कहाँ तक सम्बन्ध है, कहाँ तक उसका पालन करना चाहिये इसी को मनन करना कहते हैं। और मनन के पश्चात् जितनी बात धारण करने योग्य हो, जितनी सच्ची हो, जितना अंश उसका उत्तम हो उसको ग्रहण कर लेना चाहिये। इसी को निदिध्यासन कहते हैं। निदिध्यासन द्वारा जँची हुई बातों का प्रयोग करना एवम् उसे कार्य में परिणत करना प्रत्येक शिक्षाग्राहकों का परम कर्त्तव्य होना चाहिये। यदि इन्हीं बातों पर यथोचित ध्यान दिया जाय तो प्राप्त की हुई शिक्षा से लाभ होने की सम्भावना है। किसी कवि ने कहा हैः—

सत्य ज्ञान यदि चाहो पाना। शब्दों के पीछे मत जाना।
सार वस्तु प्राणी गहि लेव। मिथ्या मैल सकल तजि देव।

अर्थात् यदि सत्य ज्ञान की प्राप्ति चाहते हो तो केवल शब्दों के ही पीछे मत पड़ो। मनन द्वारा सार वस्तु को ग्रहण कर शेष सभी मिथ्या बातों का परित्याग कर दो।

शौच विषय में लिखा जा चुका है कि "बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति" अर्थात् ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि की जाती है। ज्ञान और बुद्धि में परस्पर बहुत सम्बन्ध है। इसमें एक से

दूसरे की उत्पत्ति जान पड़ती है, परन्तु मुख्य बुद्धि ही है। बुद्धि से ही सच्चे ज्ञान की पहिचान की जाती है। एक की उन्नति से दूसरे की उन्नति होती है। ऊपर कहीं लिखा जा चुका है कि सुसङ्ग में रहने से ज्ञान की वृद्धि होती है। इसके प्रतिकूल कुसङ्ग में प्राप्त ज्ञान का भी नाश होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है :—

"उपजै विनसै ज्ञान जिमि, पाइ सुसंग कुसंग"

अतएव उत्तम संगति द्वारा ज्ञान की प्राप्ति कर इसी से बुद्धि को बढ़ाते रहना चाहिये। बुद्धि बढ़ाने का एक और प्रबल साधन है जिसको तर्क कहते हैं। तर्क ही से बातों की असलियत का पता लगता है, तर्क से ही सत्य और झूठ की पहिचान की जाती है। झूठी बातें तर्क से कट जाती हैं परन्तु सत्य तो कभी किसी से कटने वाला नहीं है। यदि किसी बात की सत्यता का पता लगाना हो तो वहाँ तर्क से काम लेना चाहिये। हर बातों के मनन में तर्क की आवश्यकता है, इसके व्यवहार में सच्ची बातों की खोज करनी पड़ती है, उपस्थित बुद्धि की आवश्यकता है और अकाट्य तथा युक्तियुक्त बातें कहनी पड़ती हैं इसी से विचार आदि की आवश्यकता पढ़ने से बुद्धि बढ़ती जाती है।

मन को बुद्धि के वश में रख कर सदा अच्छी अच्छी बातों पर विचार करते रहना चाहिये। प्रत्येक बातों के कारण पर अवश्य विचार करना चाहिये। "ऐसा क्यों हुआ, किस प्रकार हुआ" इस पर पूर्ण विचार करना चाहिये। किसी बर्त्तन में रसोई बनाई जा रही है, बर्त्तन के ऊपर का ढक्कन बराबर हिल रहा है, कभी ऊपर कभी नीचे जा रहा है, स्थिर नहीं है। ऐसा क्यों हो रहा है? इसी क्यों पर विचार करने से

सारा संसार सुख पा रहा है। यही "क्यों", रेलगाड़ी का अद्भुत चमत्कार दिखला रहा है। सारांश यह कि बातों पर तर्क और उसके मनन से बुद्धि का विकाश निश्चय होता है, वस्तुओं के रहस्य का पता तथा विज्ञान कलादि की उन्नति इसी तर्क पर ही निर्भर है। अतएव तर्क और मनन द्वारा प्रत्येक पुरुष को अपनी बुद्धि विमल करनी चाहिये। इसके पश्चात् धर्म का आठवाँ लक्षण

विद्या

है। यह विद् धातु से बना है जिसका अर्थ जानना है। बुद्धि के द्वारा जो कुछ जाना जाता है उसीको विद्या कहते हैं। मनुष्यों के हृदय का अन्धकार दूर करने के लिये जिसका प्रकाश सूर्य्य के सदृश है और जो अज्ञान तथा भ्रम का नाश करने वाली है जो सब प्रकार के सुखों को देनेवाली और आत्मोन्नति का कारण है उसी का नाम विद्या है, जो संसार-सागर के पार कर जाने के लिये सेतु के समान है। अति रूपवान्, यौवनावस्था को प्राप्त, अच्छे वंश में उत्पन्न, धन तथा वैभवसम्पन्न पुरुष यदि विद्याविहीन है तो वह निर्गन्ध पुष्प के ही सदृश शोभा से हीन है।

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते, निर्गंधा इव किंशुकाः॥

वास्तव में पुरुष विद्या से ही शोभा देते हैं। विद्वानों की सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है। सदाचार के साधनों में सबसे मुख्य तथा आवश्यकीय यही है। इसी के द्वारा अन्यान्य गुणों को धारण करते हुए मनुष्य सदाचारी बन सकते हैं। पृथिवी तल पर इस विद्या के सदृश एक भी सम्पत्ति नहीं है। सांसारिक सारी सम्पत्तियों के नष्ट हो जाने का ही भय बना रहता

है, परन्तु विद्या नष्ट होने को नहीं। यह ऐसा अपूर्व धन है कि इसे न चोर चुरा सकता है, न भाई-बन्धु बाँट सकता है, न व्यय करने से न्यून हो सकता है। सारी सम्पत्ति व्यय करने से घट जाती है परन्तु विद्या ऐसी सम्पत्ति है कि व्यय करने से निरन्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती है।

विद्वानों का दर्जा धनवैभवसम्पन्न राजा से कहीं अधिक ऊँचा है। राजा राजा होने के कारण अपने राज्य भर में ही पूजे जाते हैं परन्तु पण्डित की सारे जगत् में पूजा होती है। राजा केवल अपनी प्रजाओं के ही ऊपर अधिकार रखते हैं परन्तु पण्डित सांसारिक सभी प्राणियों के हृदय पर अधिकार रखते हैं। अभिप्राय यह है कि विद्वानों का विद्याधन राजाओं के धन से श्रेष्ठ है। यह सभी द्रव्यों में सर्वोत्तम है। यह विद्या निर्धनों के लिये महाधन तथा निर्बलों के लिये अनुपम बल है। यह सभी सद्गुणों का मूल है। जिस प्रकार फल के भार से वृक्ष झुक जाते हैं, पानी के विन्दुओं से लदे हुए बादल बरसने के समय जिस प्रकार नम्र हो जाते हैं। विद्या के भार से विद्वान पुरुष भी इसी प्रकार नम्र हो जाते हैं। विद्या ही मनुष्यों को विनय प्रदान करती है। विनय से योग्यता, तत्पश्चात् धन की प्राप्ति होती है, जिससे मनुष्य धर्म कर सकता है। जिन अगम्य स्थानों पर सूर्य्य की किरणें भी अपना प्रकाश-प्रसार नहीं कर सकतीं वहाँ भी विद्या की ज्योति की किरणें पहुँच जाती हैं। यह जलते हुए इस प्रकार के दीपक के सदृश है जिसका प्रकाश भीतर तथा बाहर दोनों ही ओर पड़ता हो। इससे विद्यावानों को ज्ञानचक्षु प्राप्त होते हैं। उनके लिए कोई भी पदार्थ अदृश्य नहीं। नीच को भी ऊँच बनाने वाली यह विद्या ही है। अन्य किसी विचार से मनुष्य

उत्तम वा निकृष्ट नहीं, विद्या जिसमें हो वही उत्तम तथा उससे रहित पुरुष निकृष्ट समझा जाता है। विद्या ही से विचार करने की शक्ति उत्पन्न होती है। विचार तथा आचरण की उत्तमता और गंभीरता इसी पर निर्भर है। धर्म, कर्म सभी की सफलता का मूल कारण विद्या ही है। इसके विना मानुषिक एक धर्म भी नहीं हो सकता। ऊपर लिखा जा चुका है कि विद्या ही आत्मा को पवित्र करती है। जिससे मनुष्य उत्तम कार्य करने में समर्थ होता है जिससे लोक परलोक दोनों बन जाते हैं। अतएव जीवन का मूल विद्या ही है। विद्याविहीन की कहीं भी चाहना नहीं है, कहीं भी सुख नहीं है। जगह जगह उस अपवित्र का ही सामना करना पड़ता है। योगी, यती, साधू, तपस्वी सभी के मनोर्थ इसके आश्रय से सिद्ध होते हैं। मनोर्थ सिद्ध करने में यह कल्पलता के सदृश है। इससे विहीन पुरुष पृथिवी पर भार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। विद्याविहीन पुरुष सींग पूँछ रहित पशु के ही सदृश हैं। देखिये—

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

अर्थात् जिस पुरुष में विद्या, तप, दान, ज्ञान, गुण, शील तथा धर्म एक भी नहीं है वह पृथिवी पर भार सदृश है, रूप तो उसका मनुष्य का ही है परन्तु पशु के सदृश धरातल पर इससे विहीन पुरुष अवगुणों का धाम बन जाता है। कहा जाता है कि न हुआ, मर गया, मूर्ख हुआ इन तीनों में पहले ही दो उत्तम हैं तीसरा नहीं। प्रथम दो एक बार दुख देते हैं परन्तु तीसरा सर्वत्र दुःख दिया करता है। विद्यासम्पन्न एक ही पुत्र कुल में प्रकाश करता है परन्तु सहस्रों मूर्ख

पुत्रों से कुछ भी लाभ नहीं। जिस प्रकार एक ही चन्द्र सारे जगत् का अन्धकार नाश करता है, करोड़ों तारों से कुछ भी नहीं होता, उसी प्रकार गुणी तथा विद्वान एक ही पुत्र वंश की रक्षा एवम् मर्यादा का पालन करता है। मनुष्य यदि अपने को सुशोभित करना चाहते हों तो हार आदि आभूषणों और उत्तम वस्त्रों से अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। उसके लिए विद्या की आवश्यकता है। विद्या ही उत्तम आभूषण तथा वस्त्र है, इसी का ग्रहण तथा इसी की खोज करनी उत्तम है। इससे विमुख होना अपने को नष्ट करना है। जहां विद्या है वहीं सारी सम्पत्ति, वहीं सारे वैभव विराजमान हैं। जहां इसका निरादर है, जहाँ इसकी चाह नहीं है, जहां इसके ग्रहणकारी पुरुष कम हैं, वहीं सारी विपदाओं का भवन उपस्थित है। इसके प्रमाण में मैं अपने भारत को देता हूँ। विद्या के अभाव से देश की कैसी दशा है सो आप प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। विद्या से पूर्ण सम्बन्ध रखने वाले देशों की कैसी दशा हो जाती है, इसके प्रमाण में आप आंख खोल कर पश्चिमीय देशों पर दृष्टिपात कर सकते हैं। समय का उलटा चक्र आज भारत पर पड़ा है। जो देश सारे संसार का गुरु है, जिससे ही सारा संसार सभ्यता को प्राप्त हुआ है, जिसकी पूर्वीय उन्नति का स्मरण कर विदेशी विद्वानों को आज भी चकित होना पड़ता है, जो देश सभ्यता-विधातक आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर पहुँच गया था वह देश यही हमारा भारत है जो आज अविद्या का घर बना हुआ है। जितनी ही उन्नत अवस्था को प्राप्त हुआ था उससे कहीं अधिक आज अवनति के गर्त में गिरा हुआ है। अविद्या ने हमारे देश को किस प्रकार नष्ट कर डाला, कहां तक

कुविचार का संचार उत्पन्न करा दिया इसके वर्णन करने में लेखनी समर्थ नहीं होती।

जिस देश में एक भी अनपढ़ नहीं पाया जाता था, जिस देश को नीच जातियां संस्कृत विद्या में पूरी योग्यता को प्राप्त थीं, जिस देश में कालिदास सदृश संस्कृतसाहित्य के कवि-रत्न हो गये हैं, भोज सरीखे विद्याव्यसनी महिपाल जहाँ उत्पन्न हो चुके हैं, बहुत कम दिन हुए जिस देश में तुलसी-दास सदृश रामायण के रचयिता भाषा के काव्यकार एवं ज्ञानी महात्मा उत्पन्न हो चुके हैं, जहां वशिष्ठ भरद्वाज, कृष्णद्वैपायन प्रभृति के सदृश नोतिज्ञ एवम् सीता, लीलावती गार्गी जैसी विदुषी बालाएं जन्म धारण कर चुकी हैं उसी भारत को आज अविद्या की लहरों में गोते लगाने पड़ रहे हैं। हाय! कितने शोक की बात है।

यह भारत विद्या के प्रभाव से जितना ही ऊँचा चढ़ा था, आज इसको अविद्या ने उतना ही नीचे गिरा दिया है। लोगों में जितनी ही सदाचार की मात्रा अधिक थी उतना ही आज व्यभिचार ने आ घेरा है। हमारे पूर्वज आवागमन के कष्ट के निवारणार्थ जितनी ही पारलौकिक समस्याओं के हल करने में निमग्न रहते थे अविद्या के वशीभूत हो उतना ही हम आज सांसारिक व्यसनों में मग्न हैं। उन्हें जितने ही धर्म तथा ज्ञान प्रिय जान पड़ते थे उतने ही ये गुण हमें अप्रिय प्रतीत होते हैं। भारत की दशा पूर्व से ठीक विपरीत है। ऐसा क्यों? सारे गुणोंको लोप करने वाली, धन, धर्म, बुद्धि बल को नष्ट करने वाली, बनी बात को भी बिगाड़ने की शक्ति रखने वाली अविद्या देवी का अटल राज्य आज भारत ही के ऊपर विराज-मान है। जब तक इस देवी का राज्य रहेगा तब तक भारत में

प्रभातकाल नहीं होगा। जहां यह देवी राज्य करती है वहीं उन्नति का दर्वाज़ा बन्द समझिये, वहीं रात जानिये परन्तु वह रात ईश्वरीय नहीं। उद्योग करने से यह देवी सैकड़े कोस दूर भाग सकती है। विद्या प्रचार की शिथिलता ही इस देवी की सहायिका है। जब इस देश में विद्याप्रचार तरुणता को प्राप्त हो जायगा तभी हमको प्रभात काल का सुअवसर मिल जायगा। सब प्रकार की दुर्गति विद्या के ही बिना होती है। इसके बिना मनुष्य भूखों मरते हैं। यदि कृषकों के बीच विद्या का प्रचार हो जाय तो अन्न की भी कमी न रहे।

ध्यान दीजिए, अन्यान्य देश जो भारत के शिष्य हैं आज पृथिवी तल पर किस प्रकार वैभवशाली तथा उन्नति को प्राप्त हैं। इङ्गलैण्ड, जर्मन, फ्रांस, जापान आदि देशों की सभ्यता और विद्या का स्मरण कर हमें आश्चर्य करना पड़ता है। एक दिन वह था जब कि वे हमारे आचरण को आदर्श मानते थे, आज हमीं उनके आचरण को आदर्श मानते हैं। एक दिन हम गुरु थे आज वे गुरु हैं। सारांश यह कि विद्या ही उन्नति का मूल है। जैसे हो सके इसका ग्रहण करना चाहिये।

उत्तम विद्या लीजिये, यदपि नीच पै होय।
पड़ो अपावन ठौर में, कञ्चन तजत न कोय॥

जिस प्रकार बुरे स्थल में भी पड़ा हुआ सोना मनुष्य बिना लिये नहीं छोड़ता उसी प्रकार यदि उत्तम विद्या नीच के पास भी हो तो उसका ग्रहण कर लेना चाहिए। मनुष्य को उचित है कि वे जहाँ अच्छी विद्या देखें वहीं उसका ग्रहण कर लें। बड़े हर्ष की बात है कि अब विद्याप्रचार की ओर लोगों का चित्त आकर्षित हुआ है। न्यायशीला बृटिश गवर्नमेंट हमें शिक्षित बनाने के लिए जो जो उद्योग कर रही है

उसके प्रति कहाँ तक कृतज्ञता प्रकट की जाय। जगह जगह स्कूलों तथा कालेजों की स्थापना उसी की कृपा का फल है। यह लेख अब इतना ही लिखकर समाप्त किया जाता है कि तन, मन, धन से सबको अवश्य विद्या का ग्रहण करना चाहिए। बिना इसके धर्म, कर्म तथा आचार से बहुत दूर रहना पड़ता है, जिसका फल प्रत्यक्ष है। विद्या के पश्चात् धर्म का नवां लक्षण

सत्य

है। जिस बात को जैसा देखा, किया, सुना वा जाना हो, उसके सम्बन्ध में उसी प्रकार ज्यों का त्यों कह देना सत्य बोलना कहलाता है। और तदनुरूप ही बर्ताव करना सत्य व्यवहार कहलाता है।

ईश्वर की आज्ञा, प्रकृति का नियम तथा ब्रह्माण्ड के अनन्त ज्ञान का नाम वेद है। वेद, गुरु और आत्मा तथा मन से सम्मत जितने पदार्थ हैं सब सत्य हैं। इन्हीं से सम्मत बातों को सत्य कहते हैं। जो वस्तु जिस प्रकार की हो ठीक उसको वैसा ही जान कर उसके प्रति आचरण करना सत्य की एक मुख्य पहिचान है। सत्य बोलना प्रधान धर्मों में से एक है। सारा संसार सत्य के ही आश्रित हो शान्तिद्वारा आनन्द प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। यदि इस के उलटे व्यवहार से हानि है, तो समस्त संसार के लिये, यदि लाभ हैं तो सब के लिये। धर्म का मूल यह सत्य ही सारे संसार को स्थिर रखे हुए है। थोड़े समय के लिये भी यदि जगत् से इसका अभाव हो जाय तो प्रलय काल का सा दृश्य उपस्थित हो जाय, आपत्ति के तरंगित समुद्र में सबकी नौका डूब जाय। प्राणियों का सच्चा हितैषी, कल्याणकर्ता सत्य

ही है । विश्वास और प्रतिष्ठा उसी पुरुष की सर्वत्र की जाती है जो सत्यवादी हो। धर्म का सच्चा धर्म-ध्वजी वही है जिसने मन, कर्म और वचन से सत्य का आश्रय लिया हो। कहा गया है कि

"नास्ति सत्यात परोधर्मः"

अर्थात् सत्य के समान कोई दूसरा धर्म नहीं है। संसार में वही निर्भय, वही सुखी तथा वही धैर्य्यवान् है जिसने सत्य की पूरी पहिचान की हो और उसका शरणागत हो। मनुष्य अधीर क्यों होता है ? झूठ के व्यवहार से। एक झूठी बात छिपाने के लिये कई झूठी बातें और गढ़नी पड़ती हैं। झूठा अपने को छिपाना चाहे तो छिप नहीं सकता, वह दोषी सा जान पड़ता है। उसका भेद और परदा खुल ही जाता है। सत्य कभी दबाने से नहीं दब सकता। सत्य का ग्रहण करते हुए ही धैर्य्यादि का ग्रहण होता है। पंचतत्त्व का बना हुआ शरीर एक दिन निश्चय विनष्ट हो जाता है, परंतु आत्मा विनष्ट होने का नहीं। असत्य के प्रयोग से आत्मा मलिन हो जाता है। यश की प्राप्ति नहीं होती। अतएव शरीर के सुख दुख का विचार न कर यश प्राप्ति के निमित्त, नहीं नहीं अपना प्रधान और मुख्य कर्त्तव्य समझकर, सदा सत्य का व्यवहार उचित है। असत्य के निकट भूल करके भी न जाना चाहिये। असत्य बोलना बड़ा भारी पाप है। कहा भी गया है कि :—

सत्य बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप॥

अर्थात् सत्य के बराबर तप, झूठ के बराबर कोई पाप नहीं है। जिसके हृदय में सत्य है अर्थात् जो सत्यवादी हैं उनके हृदय में परमेश्वर वास करते हैं। अर्थात् सत्य से ही

परमेश्वर प्रसन्न रहते हैं सदा सत्य की ध्वजा फहराते रहना मनुष्य का धर्म है। जो सारे संसार का आधार और सर्वत्र तथा व्याप्त है जिसके बिना सुख स्वाद और सम्पदा सभी व्यर्थ है। उस सत्य को मैं सादर नमस्कार करता हूँ जिससे चन्द्र और सूर्य्य आकाश में स्थित हैं, जो ब्रह्माण्ड को धारण किये हुए है और जो सभी गुणों का सार स्वरूप है वह सत्य कभी भी त्याग देने के योग्य नहीं है। जो हमें संसार में आदर्श स्वरूप बनाता है, जो सदाचार का मस्तक स्वरूप है, जिससे हम आत्मिक उन्नति करते हैं, जो हृदय को उदार, मस्तिष्क को उच्च और दृष्टि को निर्मल बनाता है उस सत्य का हमें सर्वदा पालन और प्रयोग करना चाहिये। जिससे चिन्ता का नाश होता है, जो स्वर्ग का सीधा मार्ग बताने वाला और न्याय, दया का मूल स्वरूप है, जिससे सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो परमेश्वर का उपहार स्वरूप है उस सत्य की हमें सर्वदा प्रतिष्ठा करनी चाहिये। जो मनुष्य के जीवनरूपी सरोवर का सुन्दर कमल है, जो यश का बीज स्वरूप, सरलता और कोमलता का जो प्रत्यक्ष रूप, संसार पर विजय प्राप्त करने के लिये जो अस्त्र शस्त्र के तुल्य है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का जो दाता है वह सत्य तीन प्रकार का होता है। (१) वचन की सत्यता (२) कर्म की सत्यता (३) मन की सत्यता।

प्रथम अपने मन को सच्चा और पवित्र बनाना चाहिये तभी मनुष्य सत्य कर्म कर सकता है और तत्पश्चात् ही सत्य-वादी हो सकता है। इन तीनों से यदि सत्य का परिपालन किया जाय तो संसार से दुःखों का अभाव हो जाय। जो मनुष्य सत्य पथ पकड़ते हैं निश्चय वे निश्चित स्थान पर

पहुँच अपनी जीवनयात्रा निर्विघ्न समाप्त करते हैं परन्तु असत्य पथ पकड़ने वाले गहरे गर्त्त में गिर जाते हैं । किसी भी असत्यवादी को उसके पापों के प्रति दण्ड दिया जाय तो उसे दुःख जान पड़ता है । इस दुःख का देने वाला कोई अन्य व्यक्ति नहीं प्रत्युत उसका कर्त्तव्य है । असत्य के प्रयोग से ही दुःख पाता है । दुःख और भय उसी को स्वप्न में भी प्राप्त नहीं जिसने सत्य को अपनाया है । कहा भी गया है कि :—

नास्ति सत्ये भयं क्वचित्

अर्थात् सत्यवादी को किसी प्रकार का भय नहीं । सत्य के सम्बन्ध में एक विद्वान् पुरुष की सम्मति नीचे लिखता हूँ :—

"चाहे तुम सत्य को कुचल कर धूल में मिला दो पर वह अपने बल से उभड़े बिना नहीं रह सकता । क्षण भर के लिये चाहे वह अपनी दृष्टि से परे हो जाय पर वह नष्ट नहीं होता । परमात्मा की तरह वह अविनाशी है । छिपाए से वह छिप नहीं सकता । आग की तरह चमकता रहता है । अवश्य ही असत्य अपने भक्तों के हृदय में जख़्म कर पीड़ा पहुँचाता है । हमारे पूर्वज इस बात को भली भाँति समझते थे । इसी से पितामह भीष्म ने सत्य का इस प्रकार आग्रह किया था ।

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः ।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन ॥

अर्थात् मैं तीनों लोकों की सम्पत्ति छोड़ दूँगा, मैं देवताओं का स्वर्ग सुख छोड़ दूँगा और इनसे भी कुछ अधिक होगा तो उसे भी छोड़ देने को उद्यत हो जाऊँगा परन्तु सत्य कभी नहीं छोड़ूँगा । अपने पूर्वजों की इन बातों को हमें सदा स्मरण रखना चाहिये । कई स्थल सत्य बात भी हो तो उसके

बोलने में विचार कर लेना चाहिये। स्मृति में लिखा है कि

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्"

अर्थात् सत्य बोलो परन्तु वह जो प्रिय हो। जो बात सत्य भी हो और वह अप्रिय हो तो उसका भाषण मत करो।

एक बार एक ऋषि जंगल में तपस्या कर रहे थे। उन्हींके निकट व्याधे के बाण से बेधित एक मृग जा निकला जो उन्हीं का शरणागत हुआ। खोजते खोजते व्याध ऋषि के निकट पहुँच कर पूछता है कि बताइये ऋषिवर इधर जो हमारा मृग आया है वह कहाँ है। ऋषि विचार करने लगे कि यदि मैं सच्ची बात कहता हूँ तो मृग का प्राण जाता है और फिर झूठ भी क्यों कर बोल सकता हूँ। वैसी जगह ऋषि ने बात फेर दी। कहा कि ऐ बधिक!

या पश्यति न सा ब्रूते, या ब्रूते सा न पश्यति।

अहो! व्याध स्वकार्य्यार्थिन् किं पृच्छसि पुनः पुनः॥

अर्थात् जिसको देखने की शक्ति है उस नेत्र को बोलने की शक्ति नहीं और जिस मुख को बोलने की शक्ति है उसने देखा नहीं॥ हे स्वार्थी वधिक! क्या बारम्बार पूछते हो। ऋषि की बात सुनकर वह वधिक चला गया, मृग का प्राण बच गया।

क्या शिक्षा मिली? ऐसे स्थल पर असत्य का भी प्रयोग न करते हुए सत्य बोलना कदापि उचित नहीं। ऐसी ऐसी अवस्थाओं में वक्ता को विचार कर वचन बोलना आवश्यक है तभी यथार्थ फल की प्राप्ति होती है। सत्य की महिमा अपार है। इसकी स्तुति हमसे लेशमात्र भी न होगी। बड़े बड़े आचार्य्यों तथा ऋषिमहर्षियों ने सदा यही उपदेश दिया है कि

सत्यं वद, धर्मं चर

अर्थात् सत्य बोलो, धर्मपूर्वक चलो । अब इतना ही लिख कर इस विषय की दूसरी ओर दृष्टिपात किया जाता है । जिस सत्य की महिमा ऐसी अद्भुत है, अमिट यश की प्राप्ति का जो एक उत्तम साधन है, ऋषि महर्षियों ने जिसके लिये इतनी चेतावनी दी है, विचार करना चाहिये कि उसका कहाँ तक परिपालन हो रहा है ? जिधर आँख उठाकर दृष्टिपात किया जाता है एक महान् विप्लव सा दृश्य दिखाई पड़ता है । स्वार्थ हमारे ऊपर राज्य कर रहा है । हमारी नस नस में स्वार्थ भरा हुआ है । किसो की भी बातों पर सहसा विश्वास करने को जी नहीं चाहता । "सत्यश्रमाभ्यां सकलार्थसिद्धिः" इस सिद्धान्त को हम भूल बैठे हैं । हर बातों में उसके तत्त्व का पता लगाना कठिन हो गया है । यह क्यों ? केवल एक सत्य के अभाव से । सत्य बिना हमारे सिद्धान्त निष्फल हुए जा रहे हैं ।

असत्य बोलने के मुख्यतया चार कारण हैं । आलस, अहङ्कार, भय और लालच । इन चारों को जड़मूल से विनष्ट कर देना चाहिये । प्रधान शत्रु येही हैं । इन्हींके कारण असत्य बोलना पड़ता है । कठिन से भी कठिन अवसर पड़ जाय, घोर से भी घोर विपत्तियों का सामना करना पड़ जाय परन्तु वैसे समय भी धैर्य्य धारण कर राजा हरिश्चन्द्र तथा दशरथ का उदाहरण सन्मुख कर सत्य से न डिगना चाहिये । उस समय भी यह स्मरण रहे :—

न भवति पुनरुक्तं भाषितं सज्जनानाम्

सत्य ही मुख्य धर्म है । इसके लिये यदि प्राण भी चला जाय तो मनुष्य को चिन्तित न होना चाहिये । धर्मवीर, सत्य की पहिचान करने वाला ऋषियों के उपदेश का सच्चा अनुगामी

वीर, बच्चा हकीकतराय ने अपना प्राण तक गँवा दिया परन्तु धर्म से एक इञ्च भी नहीं डिगा। सच्चा धर्मात्मा और सत्यवादी वही है जो कष्ट के समय भी सत्य का परित्याग न करे। अब मैं इतना ही लिख कर यह लेख समाप्त करता हूँ कि जिस सत्य से मनुष्य उत्तम गति पाते हैं, अपना देश काल भी बन जाता है और जो स्वर्ग का सोपान स्वरूप है उस सत्य का मन, कर्म और वचन से परिपालन करना प्रत्येक पुरुष का कर्त्तव्य होना चाहिये। इस सत्य के पश्चात् ऋषि बतलाते हैं कि धर्म का दसवाँ लक्षण

अक्रोध

है जिसका अर्थ क्रोध नहीं करना है। क्रोध मनुष्य के शत्रुओं में से एक है। इसके प्रयोग से हानि के अतिरिक्त लाभ नहीं होता। क्रोध की कृपा से मनुष्य की बड़ी बड़ी दुर्दशायें होती हैं। यह अग्नि की तरह सारे शरीर को जलाता रहता है। जिस प्रकार घुन अच्छी सी अच्छी लकड़ी को भी उसमें प्रविष्ट होने पर तीन तेरह बना डालता है उसी प्रकार क्रोध मनुष्यों को विनष्ट कर उनके प्राप्त किये यशों को भी समूल नष्ट कर देता है। स्वाभाविक क्रोधी अकारण ही दूसरों से प्रत्येक बातों में क्रोध प्रकट करते रहते हैं। क्रोधियों का आत्मा कभी प्रसन्न रहता ही नहीं। क्रोध में भले बुरे का विचार जान ही नहीं पड़ता। अतएव सदा इनकी आवश्यकता बुरी रहती है। क्रोध के समय मनुष्य धीरज गँवा कर अन्धा सा हो जाता है जिससे किसी भी बात का भावी परिणाम नहीं सूझता। यही कारण है कि इस बात के जानते हुए भी कि अपराध करने पर दण्ड का भागी होना पड़ेगा, मनुष्य अपराध कर ही बैठते हैं, जिससे पीछे पछताना पड़ता है।

क्रोधी मनुष्यों के मित्र होते ही नहीं। वे इस प्रकार के कटु शब्दों का प्रयोग करते हैं कि जो सुनने वालों के हृदय में बाण की तरह चुभ जाते हैं। क्रोध के प्रयोग से छोटा सा छोटा कार्य्य भी नहीं सिद्ध होता प्रत्युत सिद्ध होने वाला कार्य्य भी विनष्ट हो जाता है। अक्रोध अर्थात् नम्रता से बड़ा लाभ है। नम्रता अक्रोध का ठीक पर्यायवाची शब्द तो नहीं है परन्तु अक्रोध के भाव नम्रता से प्रायः पूर्ण हो जाते हैं। किसी भी मनुष्य को अपने अधीन कर लेने तथा सबसे अपना कार्य्य निकाल लेने के लिये मीठे वचनों का प्रयोग तथा नम्रता सबसे आवश्यक है क्योंकि मीठे वचन दुष्ट से भी दुष्ट के हृदय पर प्रभाव डालते तथा उन्हें पिघला देते हैं। किसी भी अपरिचित व्यक्ति से यदि किसी प्रकार का कार्य्य साधना हो तो सिवाय इसके कि वह मीठे शब्दों का प्रयोग करे, नम्रता दिखावे, शिष्ट बन जावे, शिष्टाचार का बर्ताव तथा व्यवहार करे, दूसरा कोई साधन तथा उपाय नहीं है, जिससे वह सफलमनोर्थ हो सके। अक्रोध तथा नम्रता का प्रायः प्रत्येक बातों और प्रत्येक स्थानों में प्रयोग करने का अवसर आया ही करता है। क्रोध में मनुष्य अपने से बाहर हो जाते हैं, विचार शक्ति उस समय नष्ट हुई सी जान पड़ती है। बिना विचारे क्रोध में आकर मनुष्य ऐसे ऐसे कार्य्य कर डालते हैं जिनका पीछे बड़ा ही भयङ्कर परिणाम होता है अतएव सदा इसका परित्याग करना ही उत्तम है। यहाँ दो बातें देख पड़ती हैं, प्रथम ऋषि का उपदेश है कि यदि कोई तुम्हारे साथ किसी प्रकार का अपराध करे तो तुम उसे क्षमा कर दो परन्तु उसका सदुपयोग होना चाहिये, दुरुपयोग नहीं। सारांश यह कि प्रत्येक अपराधों में क्षमादान उत्तम नहीं है, कुछ में दण्ड

देने की भी आवश्यकता पड़ती है। बस ऐसी ही जगह दूसरों के अपराधों पर उसके सुधार के निमित्त दण्ड प्रदान के लिये जिसको सात्विक क्रोध कहते हैं, वेदों में ऐसे क्रोध को मन्यु कहते हैं। अभिप्राय यह कि क्रोध की भी कभी आवश्यकता पड़ती है। फिर ऋषि का उपदेश है कि क्रोधरहित होना चाहिये। बस इसी जगह इस विषय में शङ्का प्रतीत होती है।

काम, क्रोध, मद, ईर्ष्या, लोभ और मोह ये मानस शास्त्र के विषय हैं। मन के विकारों से इनकी उत्पत्ति होती है। ये ही षड्‌रिपु हैं। ये ही मनुष्यों के दुश्मन हैं। परन्तु कब ? उपर्युक्त इन क्रोधादि मनोविकृत की प्रबलता जब मनुष्य को अधीन कर लेती है, उनके ऊपर जब इसका पूर्ण शासन चल सकता है अथवा जब मनुष्य ही निःशक्त हो स्वयं इनके वश में चला जाता है तब वह किसके निमित्त अनर्थ का कारण होता है। और तभी वे मनुष्यों के दुश्मन हैं और ऐसे ही समय के लिये सब देश के बड़े बड़े ज्ञानी और विवेकी पुरुषों तथा हमारे आचार्य्यों और ऋषिमहर्षियों ने एक स्वर से निषेध किया है किसका ? ऐसे ही समय में अर्थात् उनकी अधिकता हो जाने पर ही वे शत्रुस्वरूप हैं। मनुष्य अगर इनका प्रयोग जाने तो ये शत्रु नहीं प्रत्युत मित्र हैं। वस्तुओं का प्रयोग न जानने से गुणकारी चीज़ें भी अनर्थ करने वाली हो जाती हैं। ऐसे समय में उस वस्तु का अपराध नहीं प्रत्युत प्रयोग करने में भूल करनेवाले का अपराध है। सोना बहुत उत्तम पदार्थ है। वह मनुष्य का हितकारी है। यदि उसका कुण्डल बनाकर प्रयोग किया जाय तो वह उत्तम है परन्तु यदि उसी सोने की हथकड़ी बना हाथों में लगा दी जाय, जिससे मनुष्य को दुख होने लगे तो इसमें सोने का दोष ही

क्या है ? इसी प्रकार काम, क्रोधादि बुरे नहीं। उनके प्रयोग की विधि जाननी चाहिये। जहाँ इनके विषय में किसी प्रकार का निषेध किया जाय अथवा जहाँ इनकी निन्दा की जाय समझिये कि इनकी प्रबलता, जो दुःखदायिनी है, का निषेध किया जाता है, स्वयं इसका ही नहीं। आचार्य मनु का उपदेश है कि संसार में क्रोधरहित होकर रहना चाहिये, इस उपदेश का अभिप्राय यह है कि मनुष्यों को स्वयं क्रोध के अधीन न होना चाहिये नहीं तो यह अनर्थकारक हो जायगा। इन्हीं सब बातों पर विचार करते हुए माता सुमित्रा राम के बन जाते समय अपने प्रिय पुत्र लक्ष्मण को उपदेश देती हैः—

काम, क्रोध, इर्षा, मद, मोहू। जनि सपने इनके बस होहू॥

अर्थात् ऐ पुत्र! काम, क्रोध, ईर्ष्या, मद और मोह के अधीन तुम स्वप्न में भी न होना। पाठक! देखिये माता केवल यही कहती है कि पुत्र तुम उनके अधीन न होना। उनका यह कथन नहीं है कि इनका प्रयोग ही मत करना।

सचमुच इनके अधीन ही हो जाने में बुराई है, इनको अधीन रखने में नहीं। अतएव पुरुषों को उचित है कि वे इनका प्रयोग करें परन्तु इनके अधीन न हो जायँ। और ऐसे ही सात्विक क्रोध का ग्रहण हर एक को उचित है। दूसरों के अपराध पर उसे सुधार के निमित्त दण्ड के लिये प्रायः क्रोध की आवश्यकता पड़ा ही करती है। बालकों के सुधार के लिये शिक्षक को क्रोध की आवश्यकता सर्वदा पड़ा करती है। सात्विक क्रोध के बिना मनुष्य दीन है। समय पड़ने पर अवश्य उसका ग्रहण करना चाहिये जिस प्रकार जनकपुर में धनुष तोड़ने के समय राजा जनक के सम्बन्ध में उनकी निराशा पूर्ण तथा वीरों के प्रति कटु बातों पर लक्ष्मण

ने क्रोध किया था। मान मर्य्यादा तथा प्रतिज्ञादि का जहाँ निरादर होता हो उसके पालनार्थ सात्विक क्रोध की आवश्यकता है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यों को केवल इसके प्रयोग का अवसर पहिचानना चाहिये। सर्वदा नम्रतापूर्वक सबसे बर्त्ताव रखना चाहिये, जहाँ तक हो सके क्रोध का सर्वदा दमन ही मनुष्य के लिये हितकर है। बहुधा क्रोधियों का तिरस्कार ही किया जाता है। इसी से अनुभवी पुरुष उपदेश दिया करते हैं कि सबसे शिष्टाचार का बर्त्ताव करो, सबसे नम्र होकर रहो। इसी में यथार्थ शोभा है। अतएव सबको क्रोधरहित होकर परस्पर प्रेमपूर्वक वर्ताव करना ही श्रेयस्कर है। यही सदाचार का उत्तम लक्षण है।

आचार्य्य मनु के बतलाये सदाचार के मूल आधार धर्म का उसके लक्षणों की संक्षिप्त व्याख्या सहित उपर्युक्त कुछ वर्णन किया जा चुका। धर्म क्या वस्तु है? इसके सम्बन्ध में भी ऊपर ही लिखा जा चुका है। सत्पुरुषों के आचरणानुकूल चलना और उपर्युक्त कथनानुसार धर्म के इन लक्षणों का यथासाध्य प्रतिपालन करना सदाचार की खोज करने वाले पुरुषों का प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिये। इसीके अनुसार चलने वाले पक्के सदाचारी बन सकते हैं। धर्म के इन अङ्गों के पालन करने वाले बालकों का आचरण निश्चय ही सुधर जायगा। धर्म ही बल है, धर्म ही सदाचार का प्राण है। बालको! अगर ध्वजा उड़ाना चाहते हो तो धर्म की ही ध्वजा उड़ाओ। अगर किसी बात में धुरन्धर बनना चाहते हो तो धर्मधुरन्धर बनो। यदि चिन्ता में मग्न रहना पसन्द है तो सदा धर्मप्रतिपालन की चिन्ता में मस्त रहो। यदि पूर्वजों के सदृश पवित्र जीवन वाला बनना चाहते हो तो धर्म की पहि-

चान करो। यदि ऋषियों के पवित्र उपदेश का सच्चा अनुगामी बनना चाहते हो तो बस धर्म के लक्षणों का अनुगमन करो। सब कुछ धर्म ही है। जिसमें धर्म नहीं वह मनुष्य नहीं। किसी कवि ने कहा है :—

जीवन सुभग जिनका अहा! गंगा समान पवित्र है।
भूले तथा भटके जनों का एक उत्तम मित्र है॥
निज धर्म का ध्रुव ध्यान रख करते सदा नित नेम जो।
कर त्याग कर पीड़न सभी उर बीच भरते प्रेम जो॥
उपकार के आधार से बस नर वही आदर्श हैं।
अरु अन्य जन पशु तुल्य हैं भाता महीपर सार हैं॥

अभिप्राय यह कि उत्तम पुरुष वे ही हैं जो धर्मात्मा और सदाचारी हैं। अब अधिक कहाँ लों वर्णन किया जाय, सदाचार के उत्तम सोपान यही धर्म के लक्षण हैं। उत्तम पुरुषों के आचरणानुकूल धर्म के इन अङ्गों के पालनार्थ हम बालकों से निवेदन तथा अनुरोध करते हैं। इसी में उनकी सब प्रकार की भलाइयाँ हैं।

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमयेति।

हे विश्वव्यापिन् प्रभो!

हमें असत् पथ की ओर से सत् पथ की ओर, अन्धकार की ओर से प्रकाश की ओर ले चलो। हमें मोक्ष प्रदान कर आवागमन के कष्ट से बचाओ। हे दयानिधे! तुमसे हमारी यही प्रार्थना है। इसे सफल करने की कृपा करो।

समाप्त